

अच्युत

वार्षिक मूल्य ६)

एक प्रति का ॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अच्युत

चमसाधिकरण [पृ० ८१४—८२५]

संख्योपसंग्रहाधिकरण [पृ० ८२६—८४५]

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्त्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } काशी, आश्विन पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ९

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

काशीपञ्चकम्—

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च ।
ज्ञानप्रवाहा विमलादिगङ्गा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ १ ॥

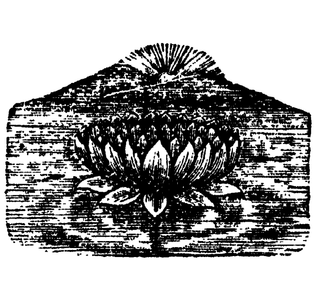
यस्यामिदं कल्पितमिन्द्रजालं चराचरं भाति मनोविलासम् ।
सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ २ ॥

कोशेषु पञ्चस्वधिराजमाना बुद्धिर्भवानी प्रतिदेहगेहम् ।
साक्षी शिवः सर्वगतोऽन्तरात्मा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ ३ ॥

काश्यां हि काश्यते काशी काशी सर्वप्रकाशिका ।
सा काशी विदिता येन तेन प्राप्ता हि काशिका ॥ ४ ॥

काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगङ्गा,
भक्तिः श्रद्धा गयेयं निजगुरुचरणध्यानयोगः प्रयागः ।
विश्वेशोऽयं तुरीयः सकलजनमनःसाक्षिभूतोऽन्तरात्मा,
देहे सर्वं मदीये यदि वसति पुनस्तीर्थमन्यत् किमस्ति ॥ ५ ॥

—श्रीशंकराचार्यः



भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यम्, न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम्। कस्मात्? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति शारीराद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात् तस्य वेदितृत्वात् बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेना-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं। यह वाक्य परमेश्वरका ही प्रतिपादन करता है, केवल जीवका प्रतिपादन नहीं करता है, क्योंकि सुषुप्तिमें और उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न परमेश्वर कहा गया है। सुषुप्तिमें 'अयं पुरुषः०' (यह पुरुष प्राज्ञ आत्मासे संश्लिष्ट—एकीभूत होकर बाहर और भीतरके किसी भी पदार्थको नहीं जानता) इस प्रकार श्रुति जीवसे परमेश्वरका भेद दिखलाती है। उसमें पुरुषशब्द जीववाचक है, क्योंकि वह वेत्ता—जाननेवाला है, अतः बाहर और भीतरके पदार्थोंके जाननेका संभव होनेसे उसका प्रतिषेध हो सकता है। प्राज्ञशब्द परमेश्वरवाचक है, क्योंकि सर्वज्ञत्वलक्षण प्रज्ञासे उसका नित्य सम्बन्ध है। उसी प्रकार उत्क्रान्तिमें भी 'अयं शारीर आत्मा०'

रत्नप्रभा

वाक्यम्। इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—**परमेश्वर इत्यादिना**। वाक्यस्य जीवस्तावकत्वे जीवाद् भेदेन प्राज्ञस्य अज्ञातस्य उक्तिः असङ्गता स्यात्, अतो ज्ञाताज्ञातसन्निपाते ज्ञातानुवादेन अज्ञातं प्रतिपादनीयम्, अपूर्वे वाक्यतात्पर्यमिति न्यायादिति सिद्धान्ततात्पर्यम्। पुरुषः—शरीरम्, प्राज्ञः–जीव इति भ्रान्तिं वारयति—**तत्र पुरुष इत्यादिना**। देहस्य वेदनाऽप्रसक्तेर्निषेधायोगात् पुरुषो जीव एव,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहा गया है, इसलिए यह वाक्य जीवकी स्तुति करनेवाला है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"परमेश्वर" इत्यादिसे। सिद्धान्तका आशय यह है कि वाक्य यदि जीवका स्तावक हो, तो अज्ञात प्राज्ञका जीवसे भिन्नरूपसे कथन असंगत हो जायगा, इसलिए ज्ञात और अज्ञातका योग होनेपर ज्ञातके अनुवादसे अज्ञातका प्रतिपादन करना चाहिए, क्योंकि अज्ञातमें ही वाक्यका तात्पर्य होता है, ऐसा न्याय है। शरीर पुरुष है, जीव प्राज्ञ है, इस भ्रमका निवारण करते हैं—"तत्र पुरुषः" इत्यादिसे। देहमें ज्ञानकी प्राप्ति नहीं है,

भाष्य

त्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति' (बृ० ४।३।३५) इति जीवाद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्यात्, शरीरस्वामित्वात्। प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात् सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात् परमेश्वर एवाऽत्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तम्—आद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात् तत्परत्वमस्य वाक्यस्य इति। अत्र ब्रूमः—उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितम्। किं तर्हि? अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणाऽस्यैकतां विवक्षति, यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते। तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा

भाष्यका अनुवाद

(यह जीवात्मा प्राज्ञ आत्मासे अधिष्ठित होकर घोरशब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार श्रुति परमेश्वरको जीवसे भिन्न कहती है। इसमें शारीर जीववाचक है, क्योंकि शरीरका स्वामी है। प्राज्ञ तो वही परमेश्वर है। इसलिए सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें (परमेश्वरका जीवसे) भेद कहा गया है, इससे परमेश्वर ही यहां विवक्षित है, ऐसा समझा जाता है। आदि, अन्त और मध्यमें शारीरके लिंगसे यह वाक्य शारीरपरक है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं—उपक्रममें 'योऽयं विज्ञान०' इससे संसारीके स्वरूपकी विवक्षा नहीं है। तब किसकी विवक्षा है? संसारीके स्वरूपका अनुवाद करके परब्रह्मके साथ उसकी एकताकी विवक्षा है, क्योंकि 'ध्यायतीव०' (वह ध्यान करता-सा है, चलता-सा है) इत्यादि उत्तरग्रन्थकी प्रवृत्ति संसारी धर्मोंका निराकरण करनेमें देखी जाती है, उसी प्रकार उपसंहारमें भी उपक्रमके अनुसार

रत्नप्रभा

प्राज्ञस्तु रूढ्या पर एवेत्यर्थः। अन्वारूढः—अधिष्ठितः, उत्सर्जन्—घोरान् शब्दान् मुञ्चन्, बुद्धौ ध्यायन्त्याम् आत्मा ध्यायतीव चलन्त्यां चलतीव। वस्तुतः सर्वविक्रियाशून्य इत्युक्तेः न संसारिणि तात्पर्यमित्याह—यत इति। उपक्रमवत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए उसका निषेध भी नहीं हो सकता है, अतः पुरुष जीव ही है। 'अन्वारूढ'–अधिष्ठित। 'उत्सर्जन्'—घोर शब्दोंको करता हुआ। बुद्धिके ध्यान करनेपर पुरुष ध्यानकर्ता-सा प्रतीत होता है और बुद्धिके चलनेपर चलता-सा ज्ञात होता है। वस्तुतः वह सब विक्रियाओंसे शून्य कहा गया है, इसलिए संसारीमें तात्पर्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यतः" इत्यादिसे। उपक्रमवाक्यके

भाष्य

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवाऽस्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात् संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत, यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनाऽवस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षितम्, किं तर्ह्यवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च विवक्षति। कथमेतदवगम्यते। यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति, यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१४, १५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति। 'अनन्वागतं

भाष्यका अनुवाद

ही 'स वा एष महानज०' यह श्रुति उपसंहार करती है। जो यह विज्ञानमय प्राणोंसे भिन्न संसारी प्रतीत होता है, उसी महान् जन्मरहित आत्मा परमेश्वरका हमने प्रतिपादन किया है, ऐसा अर्थ है। जो मध्यमें जाग्रदवस्था आदिके उपन्याससे संसारीके स्वरूपकी विवक्षाको मानता है, वह पूर्वदिशामें भेजा हुआ पश्चिम दिशामें प्रस्थान करता है, क्योंकि जाग्रदवस्था आदिके उपन्याससे आत्मा अवस्थावान् है या संसारी है, ऐसा प्रतिपादन करनेकी इच्छा नहीं है। तब किसकी विवक्षा है? आत्मा अवस्थारहित और असंसारी है, ऐसा प्रतिपादन करनेकी इच्छा है। यह किससे जाना जाता है? इससे कि 'अत उर्ध्वं०' (इसके बाद मोक्षके लिए कहिए) इस प्रकार पद-पदपर प्रश्न करते हैं और 'अनन्वागतस्तेन०' (यह आत्मा संगरहित होनेसे अवस्थाधर्मसे अस्पृष्ट है) ऐसा पद-पद पर प्रतिवचन कहते हैं। और

रत्नप्रभा

उपसंहारवाक्येऽपि ऐक्यं विवक्षितमित्याह—**तथेति**। व्याचष्टे—**योऽयमिति**। अवस्थोपन्यासस्य त्वमर्थशुद्धिद्वारा ऐक्यपरत्वात् न जीवलिङ्गत्वमित्याह—**यतो न बुद्धान्तेति**। प्रश्नोत्तराभ्याम् असंसारित्वं गम्यते इत्याह—**यदत ऊर्ध्वमिति**। कामादिविवेकानन्तरमित्यर्थः। **भवतीति चेति**। यद् यस्माद् वक्ति, तस्माद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान उपसंहारवाक्यमें भी अभेद विवक्षित है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। उसीका व्याख्यान करते हैं—"योऽयम्" इत्यादिसे। अवस्थाओंका उपन्यास त्वंपदार्थकी शुद्धि द्वारा अभेदका प्रतिपादक है, इससे वह जीवका लिंग नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यतो न बुद्धान्त" इत्यादिसे। प्रश्न और उत्तरसे असंसारी परमेश्वरका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं—"यदत

भाष्य

पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' (बृ० ४।३।२२) इति च । तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्य-मित्यवगन्तव्यम् ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

'अनन्वागतं०' (आत्मतत्त्व पुण्य और पापसे अस्पृष्ट है, क्योंकि सुषुप्तिमें जीव हृदय-संबन्धी सब शोकोंसे अतिक्रान्त होता है) ऐसी श्रुति भी है । इससे निश्चय करना चाहिए कि यह वाक्य असंसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए ही है* ॥४२॥

रत्नप्रभा

अवगम्यते इति योजना । तेन—अवस्थाधर्मेण, अनन्वागतः—अस्पृष्टः भवति, असङ्गत्वात् सुषुप्तौ अपि आत्मतत्त्वं पुण्यपापाभ्याम् अस्पृष्टं भवति । हि यस्माद् आत्मा सुषुप्तौ सर्वशोकातीतः, तस्मात् हृदयस्यैव सर्वशोका इति श्रुत्यर्थः ॥४२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऊर्ध्वम्" इत्यादिसे । अर्थात् काम आदिके ज्ञानके अनन्तर । "भवतीति च" इत्यादि । 'यत् वक्ति तस्मात् अवगम्यते' (चूंकि ऐसा कहता है, अतः ज्ञात होता है) ऐसी योजना करनी चाहिए । अवस्थाओंके धर्मसे अस्पृष्ट होता है अर्थात् असंग होनेके कारण आत्मा सुषुप्ति अवस्थामें भी पुण्य और पापोंसे अस्पृष्ट संबन्धरहित होता है । चूंकि आत्मा सुषुप्तिमें सब शोकोंसे अतीत रहता है, इससे प्रतीत होता है कि सब शोक हृदयके ही हैं, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ॥४२॥

---

* सिद्धान्तका रहस्य इस प्रकार है—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि वाक्यको जो पूर्वपक्षी संसारीपरक मानता है, उससे पूछना चाहिए कि क्या संसारीसे अन्य परमात्मा नहीं है अथवा यहां संसारीसे अतिरिक्त परमात्माका संकीर्तन नहीं है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि परमात्माके प्रतिपादक सैकड़ों श्रुतिवाक्य हैं । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें संसारीसे व्यतिरिक्त परमात्माका संकीर्तन है । प्राज्ञ परमात्माका जीवसे भिन्नरूपसे संकीर्तन हो सकता हो, तो 'राहुका सिर' इसके समान उसे औपचारिक मानना युक्त नहीं है । और प्राज्ञशब्द प्रज्ञाप्रकर्षशालीमें रूढ़ है । प्रज्ञाका प्रकर्ष सर्ववेत्तासे अन्यत्र संभव नहीं है । जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं है । इसलिए सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्नरूपसे परमात्माका व्यपदेश है, अतः 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुति लोकसिद्ध आत्माका अनुवाद करके उसमें अज्ञात परमात्मभावका प्रतिपादन करती है ।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

पदार्थोक्ति—पत्यादिशब्देभ्यः—'योऽयं विज्ञानमय' इत्युक्तवाक्यगतेभ्यः 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इति पत्यादिशब्देभ्योऽसंसारित्वप्रतिपादकेभ्यः 'स न साधुना कर्मणा भूयान्' इत्यादिशब्देभ्यः संसारित्वनिषेधकेभ्यश्च [गम्यते यदुक्तवाक्यम् असंसारिब्रह्मप्रतिपादकमेवेति] ।

भावार्थ—'योऽयं विज्ञान०' इस पूर्व वाक्यमें पठित 'सर्वस्य वशी०' (सबको वशमें रखनेवाला, सबका नियन्ता, सबका अधिपति) इन पति आदि असंसारिताके प्रतिपादक शब्दोंसे और 'स न साधुना०' (पुरुष अच्छे कर्मोंसे बड़ा नहीं होता) इत्यादि संसारिताका निषेध करनेवाले शब्दोंसे ज्ञात होता है कि उक्त वाक्य असंसारी परमात्माका ही प्रतिपादक है ।

भाष्य

इतश्चाऽसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद् वाक्यमित्यवगन्तव्यम् । यदस्मिन् वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः । 'स न साधुना कर्मणा

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी यही निश्चय करना चाहिए कि यह वाक्य असंसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए ही है, क्योंकि इस वाक्यमें पति आदि शब्द असंसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं और संसारीके धर्मोंका प्रतिषेध करते हैं । 'सर्वस्य वशी०' (सबको अपने वशमें रखनेवाला अर्थात् स्वतंत्र, सबका नियमन करनेवाला, सबका अधिपति) इस प्रकारके शब्द असंसारीके स्वभावका प्रतिपादन करते हैं । 'स न साधुना कर्मणा०' (वह अच्छे कर्मोंसे बड़ा नहीं

रत्नप्रभा

वाक्यस्य ब्रह्मात्मैक्यपरत्वे हेत्वन्तरमाह—**पत्यादीति** । सूत्रं व्याचष्टे—**इतश्चेति** । वशी—स्वतन्त्रः अपराधीन इति यावत् । ईशानः—नियमनशक्तिमान् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त वाक्य ब्रह्म और जीवके अभेदका प्रतिपादक है, इस विषयमें दूसरा हेतु कहते हैं—"पत्यादि" इत्यादिसे । "इतश्च" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं । 'वशी' स्वतंत्र, जो दूसरेके अधीन न हो । 'ईशानः' नियममें रखनेकी शक्तिवाला, आधिपत्य शक्तिका कार्य है, इस

भाष्य

भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः । तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥ ४३ ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता और न पाप कर्मोंसे छोटा ही होता है) इस प्रकारके शब्द संसारीस्वभावका निषेध करते हैं। इससे निश्चय होता है कि असंसारी परमेश्वर ही यहां कहा गया है ॥ ४३ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथम अध्यायके तृतीय पादके
भाष्यका अनुवाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

शक्तेः कार्यम् आधिपत्यम् इति भेदः । तस्मात् शोधितत्वमर्थैक्ये षष्ठाध्यायसमन्वय इति सिद्धम् ॥४३॥ (१३) ॥१॥३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसादर्शन-
भाष्यव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां प्रथमाध्यायस्य
तृतीयः पादः समाप्तः ॥ १ ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार ईशत्व और आधिपत्यमें भेद समझना चाहिए । इससे सिद्ध हुआ कि शोधित त्वंपदार्थके अभेदमें षष्ठाध्यायका समन्वय है ॥ ४३ ॥

* यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथमाध्यायके तृतीय पादका रत्नप्रभानुवाद समाप्त *

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।

[*अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्ताजादिपदानां चिन्तनम् ।*]

[१ आनुमानिकाधिकरण सू० १—७]

महतः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपुः ।
प्रधानं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया ॥१॥
श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात् परिशेषाच्च तद्वपुः ।
सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थमव्यक्ताख्यां तदर्हति* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुतिमें पठित अव्यक्त-शब्द प्रधानका वाचक है या शरीरका ?

पूर्वपक्ष—सांख्यशास्त्रमें कहे गये महद्, अव्यक्त और पुरुषकी क्रमशः प्रत्याभिज्ञा होनेसे प्रतीत होता है कि अव्यक्तपद प्रधानका प्रतिपादक है ।

सिद्धान्त—पूर्व वाक्यमें उक्त शरीरकी ही प्रत्याभिज्ञा होनेसे और परिशेषसे भी शरीर ही अव्यक्तशब्दवाच्य है । कारण अवस्थामें विद्यमान वह शरीर सूक्ष्म होनेके कारण अव्यक्तसंज्ञक है ।

---

* तात्पर्य यह है कि कठोपनिषत्की तीसरी वल्लीमें श्रुति है—"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः" अर्थात् महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है । यहां पर सन्देह होता है कि अव्यक्तशब्द प्रधानका वाचक है या शरीरका ?

पूर्वपक्षी कहता है कि अव्यक्तशब्दसे सांख्याभिमत प्रधानका ही निर्देश है, क्योंकि जैसे महत्, अव्यक्त और पुरुष सांख्यशास्त्रमें पूर्व-पर भावसे प्रसिद्ध हैं, वैसे ही श्रुतिमें उनकी प्रत्यभिज्ञा होती है । इसलिए अव्यक्तशब्द प्रधानका ही प्रतिपादन करता है ?

सिद्धान्ती कहते हैं कि अव्यक्तशब्द शरीरका ही प्रतिपादक है, क्योंकि पूर्व श्रुतिवाक्यमें उक्त शरीरकी ही यहां प्रत्यभिज्ञा होती है । पूर्व वाक्यमें शरीर आदि रथ आदिके रूपसे कहे गये हैं—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।"

अर्थात् आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि और मनको लगाम जानो एवं इन्द्रियोंको अश्व और विषयोंको उनका मार्ग कहते हैं । इन पूर्वोक्त वस्तुओंकी ही उत्तर वाक्यमें प्रत्यभिज्ञा होती है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।"

अर्थात् इन्द्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महान्-आत्मा श्रेष्ठ है, महान् आत्मासे अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है ।

सन्निहित होनेसे सांख्यशास्त्रकी प्रत्याभिज्ञाकी अपेक्षा यह श्रुतिकी प्रत्यभिज्ञा प्रबल है । यदि कहो कि श्रुतिप्रत्यभिज्ञा ही बलवत्तर हो, तो भी श्रुतिसे केवल एक शरीरकी ही प्रत्यभिज्ञा नहीं होती

भाष्य

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति । तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति । गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते न प्रधानकारणवादं प्रतीति

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा कर 'जन्माद्यस्य यतः' से ब्रह्मका लक्षण कहा गया है। वह लक्षण प्रधानमें भी सङ्गत है, ऐसी आशङ्का करके श्रुतिप्रतिपादित न होनेसे 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इससे उसका निराकरण किया गया है। सभी वेदान्तवाक्य ब्रह्मको जगत्का कारण कहते हैं, न कि प्रधानको; ऐसा पीछे

रत्नप्रभा

अव्यक्तेशमजं पञ्चजनाधारं च कारणम् ।
वेदितव्यं प्रियं वन्दे प्रकृतिं पुरुषं परम् ॥ १ ॥

अस्मिन् पादे अधिकरणत्रयस्य ईक्षत्यधिकरणेन सङ्गतिं वक्तुं वृत्तम् अनुवदति—ब्रह्मेति । तदशब्दत्वेन—प्रधानस्य वैदिकशब्दशून्यत्वेन इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीरके अधिपति, जन्मरहित, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मनके आधार, जगत्के कारण, ज्ञातव्य, सबके परम प्रिय, जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानभूत परम पुरुषको मैं प्रणाम करता हूँ।

इस पादमें तीन अधिकरणोंकी ईक्षति अधिकरणके साथ संगति कहनेके लिए पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। 'तदशब्दत्वेन'—प्रधानके वैदिकशब्दवाच्य न

किन्तु बहुतोंकी प्रत्यभिज्ञा होती है, ऐसी स्थितिमें यह आपने कैसे निर्णय कर लिया कि अव्यक्तशब्दसे शरीरका ही बोध होता है। इसपर हम कहते हैं कि परिशेषसे हमने यह निश्चय किया है। देखो, पूर्ववाक्यमें इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि आदि शब्दोंसे निर्दिष्ट पदार्थ अग्रिम वाक्यमें उन्हीं शब्दोंसे कहे गये हैं। जिस वस्तुका पूर्व वाक्यमें आत्मशब्दसे निर्देश किया था उसका उत्तर वाक्यमें पुरुषशब्दसे निर्देश किया गया है। उत्तर वाक्यमें महत्से जो कहा गया है पूर्व वाक्यमें वही बुद्धिशब्दसे कहा गया है। बुद्धि दो प्रकारकी है—(१) हमलोगोंकी बुद्धि (२) हम लोगोंकी बुद्धिकी जननी हिरण्यगर्भकी बुद्धि जो कि महत् शब्दसे व्यवहृत होती है। उन दोनों बुद्धियोंका पूर्ववाक्यमें एकत्वेन निर्देश है, और अग्रिम वाक्यमें उनका भेदसे कथन है। ऐसा होनेपर पूर्व वाक्यमें केवल एक शरीर बच जाता है और उत्तर वाक्यमें अव्यक्तशब्द बचता है। ऐसा परिशेष होनेपर भी शरीर व्यक्त होने (स्पष्ट दिखाई देने) के कारण अव्यक्तशब्दवाच्य नहीं हो सकता ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कारणावस्थाको प्राप्त हुआ शरीर सूक्ष्म होनेके कारण स्पष्ट नहीं भासता, इसलिए अव्यक्तशब्दवाच्य हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि अव्यक्तशब्दवाच्य शरीर ही है।

भाष्य

प्रपश्चितं गतेन ग्रन्थेन। इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याऽशब्दत्वं तदसिद्धम्, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात्। अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते। तद्यावत् तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत् सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रदिपादितमप्याकुलीभवेत्, अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः सन्दर्भः प्रवर्तते—

भाष्यका अनुवाद

विस्तारपूर्वक कहा गया है। अब अवशिष्ट विषयमें आशङ्का की जाती है—प्रधान अशब्द है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि कुछ शाखाओं में प्रधानके वाचक शब्द सुननेमें आते हैं। इससे सूचित होता है कि प्रधानकी जगत्कारणता वेदसिद्ध है, उसीका कपिलादि महान् परमर्षियोंने ग्रहण किया है। इसलिए जबतक उन शब्दोंकी अन्यपरताका निर्णय न किया जाय तबतक सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है, ऐसा जो प्रतिपादन किया है, वह भी सन्देहास्पद हो जायगा, इसलिए वे शब्द अन्यपरक हैं यह दिखलानेके लिए अब अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ होता है—

रत्नप्रभा

ईक्षत्यधिकरणे गतिसामान्यम्, अशब्दत्वञ्च प्रतिज्ञातम्, तत्र ब्रह्मणि वेदान्तानां गतिसामान्यं प्रपञ्चितम्, अधुना प्रधानस्य अशब्दत्वम् असिद्धम् इत्याशङ्क्य निरूप्यते इति आक्षेपसंगतिः। तेन अशब्दत्वनिरूपणेन ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयो दृढीकृतो भवति इति अध्यायसंगतिरपि अधिकरणत्रयस्य ज्ञेया। अत्र अव्यक्तपदं विषयः। तत् किं प्रधानपरं पूर्वोक्तशरीरपरं वेति स्मृतिप्रकरणाभ्यां संशये पूर्वम् अप्रसिद्धब्रह्मपरत्वं यथा षष्ठाध्यायस्य दर्शितम्, तद्वत् अव्यक्तपदम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेके कारण। ईक्षत्यधिकरणमें सब वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय है एवं प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है और विस्तारपूर्वक सब वेदान्तोंका ब्रह्ममें समन्वय दिखलाया भी गया है। अब प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है यह सिद्ध नहीं हो सकता ऐसी आशङ्का करके उसका निरूपण करते हैं, इस प्रकार ईक्षत्यधिकरणके साथ इस अधिकरणकी आक्षेपसंगति है। प्रधान श्रुतिप्रातिपादित नहीं है, इसके निरूपणसे ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय दृढ़ हो जाता है, इससे तीन अधिकरणोंकी अध्यायसंगति भी समझनी चाहिए। इस अधिकरणका विषय 'अव्यक्त' पद है। वह प्रधानपरक है अथवा पूर्ववाक्यमें कथित शरीरपरक है, स्मृति और प्रकरणसे ऐसा संशय होनेपर जैसे पूर्व अधिकरणमें बृहदारण्यकका छठा

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

पदच्छेद—आनुमानिकम्, अपि, एकेषाम्, इति, चेत्, न, शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेः, दर्शयति, च ।

पदार्थोक्ति—एकेषाम्—केषांचित् शाखिनाम् ['महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः'] इत्यादौ, आनुमानिकमपि—प्रधानमपि [पठ्यते] इति चेत् न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः—'शरीरं रथमेव तु' इत्यस्मिन् पूर्ववाक्ये शरीरस्य रथरूपकेण कल्पितस्य ग्रहणात्, दर्शयति च —पूर्वापरसन्दर्भ आलोच्यमान औचित्येन प्रकृतं शरीरमेव अव्यक्तग्राह्यं दर्शयति ।

भाषार्थ—कुछ शाखावाले 'महतः पर०' (महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है, अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है) इत्यादिमें प्रधानको भी पढ़ते हैं [इससे प्रधानमें अशन्दत्व सिद्ध नहीं होता] यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'शरीरं०' इस पूर्ववाक्यमें रथ-सादृश्यसे कल्पित शरीरका ही यहां ग्रहण है । पूर्वापर सन्दर्भके पर्यालोचनसे भी यही प्रतीत होता है कि पूर्वप्रकृत शरीरका ही यहां अव्यक्तशब्दसे ग्रहण करना उचित है ।

भाष्य

आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते । काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'

भाष्यका अनुवाद

आनुमानिक-अनुमानसे निरूपित प्रधान भी कुछ शाखावालोंकी श्रुतिसे प्रतिपादित प्रतीत होता है । काठकमें 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष परः (महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है) ऐसी

रत्नप्रभा

अप्रसिद्धप्रधानपरमिति पूर्वपक्षयति—**आनुमानिकमिति** । अपिशब्दाद् ब्रह्माङ्गीकारेण अयमशब्दत्वाक्षेप इति सूचयति । तथा च ब्रह्मप्रधानयोः विकल्पेन कारणत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्याय अप्रसिद्ध ब्रह्मपरक माना गया है, उसी प्रकार यहां भी अव्यक्तपद अप्रसिद्ध प्रधान-परक है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"आनुमानिकम्" इत्यादिसे । अपिशब्दसे ब्रह्मको श्रुति-प्रतिपादित मान कर ही प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, इसपर आक्षेप सूचित होता है,

भाष्य

(१।३।११) इति । तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्राऽव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसम्भवात् स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते । अतः तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम् । तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत् ।

भाष्यका अनुवाद

श्रुति है । जिस नाम और क्रमसे महत्, अव्यक्त और पुरुष सांख्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उनका ही यहां—काठकमें प्रत्यभिज्ञान होता है । उनमेंसे अव्यक्त-शब्दसे प्रधानका बोध होता है, क्योंकि सांख्यशास्त्रमें अव्यक्त शब्द प्रधानमें प्रसिद्ध है और शब्द आदि न होनेसे जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त है, इस व्युत्पत्तिका उसमें सम्भव है । इसलिए श्रुतिप्रतिपादित होनेसे प्रधानको अशब्द कहना युक्त नहीं है । श्रुति, स्मृति और तर्कसे वह सिद्ध है, अतः वही जगत्का कारण है ।

रत्नप्रभा

ब्रह्मण्येव वेदान्तानां समन्वय इति नियमासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते नियमसिद्धिः इति विवेकः । पदविचारत्वाद् अधिकरणानाम् एतत्पादसंगतिः बोध्या । स्मार्तक्रमरूढिभ्याम् अव्यक्तशब्दः प्रधानपरः, शब्दस्पर्शादिशून्यत्वेन योगसम्भवाच्च इत्याह—**शब्दादीति** । प्रधानस्य वैदिकशब्दवाच्यत्वे का क्षतिः इत्यत आह—**तदेवेति** । "अजामेकाम्" (श्वे० ४।५) इत्याद्या श्रुतिः, "हेतुः प्रकृतिरुच्यते" इत्याद्या स्मृतिः, 'यद् अल्पं तद् जडप्रकृतिकम्' इति न्यायः, ततो ब्रह्मैव कारणमिति मतक्षतिः इति भावः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए ब्रह्म एवं प्रधानके विकल्पसे कारण होनेसे ब्रह्ममें ही वेदान्तोंका समन्वय है, इस नियमकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, सिद्धान्तमें उक्त नियमकी सिद्धि फल है । इन तीनों अधिकरणोंमें पदका विचार है, अतः पादसंगति है । सांख्यस्मृतिके क्रमसे और रूढ़िसे अव्यक्तपद प्रधानपरक है और शब्द, स्पर्श आदिरहित होनेसे योगका संभव है, इससे भी प्रधानपरक है, ऐसा कहते हैं—"शब्दादि" इत्यादिसे । प्रधान यदि श्रुतिप्रतिपादित हो, तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—"तदेव" इत्यादि । 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति है, 'हेतुः प्रकृतिरुच्यते' इत्यादि सांख्यस्मृति है, 'यदल्पं तद् जडप्रकृतिकम्' (जो परिच्छिन्न है, वह जड़से उत्पन्न है) इत्यादि न्याय है । इस प्रकार ब्रह्म ही जगत्का कारण है, इस मतकी क्षति होती है ऐसा पूर्वपक्षका आशय है ।

भाष्य

नैतदेवम् । नह्येतत् काठकवाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम् । नह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते, शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते । स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते, न चाऽयं कस्मिंश्चिद् रूढः । या तु प्रधानवादिनां रूढिः, सा तेषामेव पारि-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं है । क्योंकि यह काठकवाक्य सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध महत् और अव्यक्तके अस्तित्वका बोधक नहीं है, क्योंकि जैसा सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध जगत्कारण त्रिगुणात्मक प्रधान है वैसे अव्यक्त-प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा यहां नहीं होती । यहां तो केवल अव्यक्त शब्दमात्रकी प्रत्यभिज्ञा होती है, और वह शब्द जो व्यक्त नहीं है—वह अव्यक्त है, इस प्रकार यौगिक होनेसे सूक्ष्म एवं सुदुर्लक्ष्य[1] अन्य पदार्थमें भी प्रयुक्त हो सकता है और काठकश्रुतिमें पठित अव्यक्त शब्द किसी अर्थमें रूढ़ नहीं है, जो प्रधानवादियों[2]की रूढि है, वह

रत्नप्रभा

सूत्रे नञर्थं वदन् सिद्धान्तयति—**नैतदिति** । प्रधानं वैदिकं नेत्यत्र तात्पर्याभावं हेतुमाह—**नहीति** । ननु प्रधानस्याऽत्र प्रत्यभिज्ञानाद् वैदिकत्वम् इत्यत आह—**नह्यत्रेति** । ननु शब्दप्रत्यभिज्ञायाम् अर्थोऽपि प्रत्यभिज्ञायते इत्याशङ्क्य यौगिकात् शब्दाद् असति नियामके नाऽर्थविशेषधीरित्याह—**स चेति** । रूढ्या तद्धीरित्याशङ्क्य रूढिः किं लौकिकी स्मार्ता वा, नाऽऽद्या इत्याह—**न चेति** । द्वितीयं प्रत्याह—**या त्विति** । पुरुषसंकेतो नाऽनादिवेदार्थनिर्णयहेतुः, पुंमतेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रमें स्थित 'नञ्' के अर्थको कहते हुए सिद्धान्त करते हैं—"नैतद्" इत्यादिसे । प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, इस विषयमें श्रुतिके तात्पर्यका अभावरूप हेतु कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे । परन्तु यहां प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा होती है, इसलिए प्रधान वैदिक—श्रुतिप्रतिपादित है, इस शंकाको दूर करनके लिए कहते हैं—"नह्यत्र" इत्यादि । परन्तु शब्दकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे अर्थकी भी प्रत्यभिज्ञा होगी, ऐसी आशंका करके "न च" इत्यादिसे समाधान कहते हैं कि कोई नियामक न हो, तो यौगिकशब्दसे विशिष्ट अर्थकी प्रतीति नहीं होती है । तब रूढ़िसे प्रधानकी प्रतीति होगी, ऐसी आशंका हो, तो वह रूढि लौकिक है, या सांख्यस्मृतिकी है ? लौकिक रूढि तो नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे ।

(१) अत्यन्त दुर्लक्ष्य । (२) प्रधान जगत्का कारण है—ऐसा कहनेवाले ।

भाष्य

भाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते। न च क्रममात्र-सामान्यात् समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने, नह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति। प्रकरणनिरूपणायां चाऽत्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः। शरीरं ह्यत्र

भाष्यका अनुवाद

उन्हींकी पारिभाषिक होनेसे वेदार्थका निरूपण करनेमें कारण नहीं हो सकती। अर्थके[1] रूपकी प्रत्यभिज्ञा न हो तो केवल क्रमकी समानतासे समान अर्थका बोध नहीं होता। कोई भी समझदार आदमी घोड़ेके स्थानपर बैलको देखकर "यह घोड़ा है" ऐसा निश्चय नहीं कर सकता, और यहां प्रकरणका निरूपण करनेपर प्रतिपक्षीसे कल्पित प्रधानकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहां रथ

रत्नप्रभा

विचित्रत्वादित्यर्थः। यत्तु स्मार्तक्रमप्रत्यभिज्ञया क्रमिकार्थः स्मार्त एवेति, तत्राऽऽह—**न च क्रमेति**। स्थानात् तद्रूपप्रत्यभिज्ञानशङ्कायाम् असति इत्यनन्वयात् नञो व्यत्यासेन अतद्रूपस्य तद्रूपविरुद्धस्य प्रत्यभिज्ञाने सति इत्यर्थः। पूर्वज्ञातरूपार्थस्य स्थाने तद्विरुद्धार्थज्ञाने सति तस्य धीः नास्ति इत्यत्र दृष्टान्तमाह—**नहीति**। प्रकृते नास्ति विरुद्धज्ञानम् इत्याशङ्क्य प्रकरणात् शरीरज्ञानमस्ति इत्याह—**प्रकरणेति**। शरीरमेव रूपकेण रथसादृश्येन विन्यस्तं शरीररूपकविन्यस्तम्, तस्य पूर्ववाक्ये आत्मबुद्ध्योः मध्यस्थानपठितस्य अत्रापि मध्यस्थेन अव्यक्तशब्देन

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्यस्मृतिकी भी रूढि नहीं है, ऐसा कहते हैं—"या तु" इत्यादिसे। पुरुषसंकेत अनादि वेदका अर्थनिर्णय करनेमें हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुषकी मति विचित्र होती है, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु सांख्यस्मृतिके क्रमकी यहाँ प्रत्यभिज्ञा होनेसे क्रमिक अर्थ भी स्मृति कथित ही है, यह जो कथन है, उसका समाधान करते हैं—"न च क्रम" इत्यादिसे। स्थानसे उसीकी प्रत्यभिज्ञा हो, ऐसी शंका होनेपर 'असति' का अन्वय नहीं हो सकता है, इसलिए 'नञ्' के व्यत्याससे अतद्रूप-उससे विरुद्धकी प्रत्यभिज्ञा होनेपर, ऐसा अर्थ करना चाहिए। ज्ञात पदार्थके स्थानपर उससे विरुद्ध पदार्थका ज्ञान होनेपर उसकी (ज्ञातकी) प्रतीति नहीं होती, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। प्रकृत विषयमें विरुद्ध ज्ञान नहीं है, ऐसी आशंका करके प्रकरणसे शरीरका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं—"प्रकरण" इत्यादिसे। रूपक अर्थात् रथ सादृश्यसे विन्यस्त शरीर ही शरीररूपकविन्यस्त है। पूर्ववाक्यमें आत्मा और बुद्धिके मध्यमें शरीर पढ़ा गया है, इसलिए यहां भी मध्यके अव्यक्तशब्दसे

(१) वस्तु।

भाष्य

रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते । कुतः ? प्रकरणात् परिशेषाच्च । तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपकक्लृप्तिं दर्शयति—

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (का० १।३।३,४) इति ।

भाष्यका अनुवाद

रूपकसे विन्यस्त शरीरका ही ग्रहण है । निस्सन्देह, यहांपर रथरूपकसे विन्यस्त शरीरका ही अव्यक्तशब्दसे ग्रहण किया है । किससे ? प्रकरणसे और परिशेषसे। क्योंकि समनन्तर अतीत ग्रन्थ रथी, रथ आदिके साथ आत्मा, शरीर आदिके रूपककी कल्पना दिखलाता है—'आत्मानं रथिनं विद्धि०' (आत्माको रथी और शरीरको रथ जानो, बुद्धिको सारथि और मनको लगाम जानो, इन्द्रियाँ अश्व हैं और विषय उनके मार्ग हैं, देह, इन्द्रिय और मनसे युक्तको

रत्नप्रभा

ग्रहणात् न प्रधानस्य वैदिकत्वमिति सूत्रार्थः । स्मार्तक्रमः किमिति त्यक्तव्य इत्याशङ्क्य श्रौतक्रमस्य प्रकरणाद्यनुग्रहेण बलवत्त्वात् इत्याह—कुत इत्यादिना । तदुभयं विवृणोति—तथा हीति । रूपकक्लृप्तिः—सादृश्यकल्पना । प्रग्रहः—अश्वरशना । यदा बुद्धिसारथिः विवेकी, तदा मनसा इन्द्रियहयान् विषमविषयमार्गाद् आकर्षति । यदि अविवेकी, तदा मनोरशनाबद्धान् तान् प्रवर्तयतीति मनसः प्रग्रहत्वं युक्तम् । तेषु—हयेषु, गोचरान्—मार्गान् । ननु स्वतः चिदात्मनो भोगसम्भवात्, किं रथादिना इत्यत आह—आत्मेति । आत्मा—देहः, देहादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीरका ग्रहण होनेसे प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, ऐसा सूत्रका अर्थ है । परन्तु स्मृतिका क्रम त्याज्य क्यों है, ऐसी आशंका करके प्रकरण आदिके अनुग्रहसे श्रुतिक्रम स्मृतिक्रमसे बलवत्तर है, ऐसा कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे । प्रकरण और परिशेष इन दोनोंका विवरण करते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे । रूपकक्लृप्ति—सादृश्यकी कल्पना । प्रग्रह—लगाम । यदि बुद्धिरूप सारथि विवेकशील होता है, तब मनरूपी लगामसे इन्द्रियरूपी अश्वोंको विषयरूपी विषम मार्गमेंसे खींच लेता है, यदि वह अविवेकी होता है, तो मनरूपी लगामसे बांधे हुए अश्वोंको उस मार्गमें चलाता है, इस प्रकार मनको लगाम कहना युक्त है । तेषु—अश्वोंके, गोचर—मार्ग । यदि कोई कहे कि चिदात्मामें स्वतः भोगका संभव है,

भाष्य

तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति। संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायाम्, तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥'

(का० १।३।१०, ११) इति। तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृत-

भाष्यका अनुवाद

विद्वान् भोक्ता कहते हैं) वे इन्द्रियाँ आदि असंयत—अनियमित हों, तो उनसे जन्म-मरणपरम्पराको प्राप्त होता है और संयत हों तो आवागमनरहित विष्णुके परम पदको प्राप्त होता है, ऐसा दिखलाकर आवागमनरहित विष्णुका परम पद कौन है, ऐसी आकांक्षा होनेपर—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था०' (इन्द्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महान्—जीव श्रेष्ठ है, महान् जीवसे अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुषसे कुछ श्रेष्ठ नहीं है वह अन्तिम सीमा है, वही उत्कृष्ट गति है।) यह श्रुति प्रकृत इन्द्रिय आदिसे पर परमात्माको ही आवागमनरहित विष्णुका परम पद कहती है। उस श्रुतिमें रथरूपककी कल्पनामें अश्व आदि रूपसे जो इन्द्रिय आदि प्रकृत हैं, प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी कल्पनारूप

रत्नप्रभा

सङ्गकल्पनया भोक्तृत्वम्, न स्वतः, असङ्गत्वादित्यर्थः। अधुना रथादिभिः गन्तव्यं वदन् आकाङ्क्षापूर्वकम् उत्तरवाक्यमाह—**तैश्चेत्यादिना**। शरीरस्य प्रकृतत्वेऽपि अव्यक्तपदेन प्रधानं गृह्यतामित्यत आह—**तत्र य एवेति**। एवं

रत्नप्रभाका अनुवाद

रथ आदिकी क्या आवश्यकता है, इसपर कहते हैं—"आत्मा" इत्यादिसे। आत्मा—देह। देह आदि संगकी कल्पनासे आत्मा भोक्ता होता है, स्वतः भोक्ता नहीं है, क्योंकि असंग है। अब रथ आदिसे गंतव्य क्या है, यह कहते हुए आकांक्षापूर्वक उत्तर वाक्य कहते हैं—"तैश्च" इत्यादिसे। यद्यपि शरीर प्रकृत है, तो भी अव्यक्तशब्दसे प्रधानका ही ग्रहण करो,

भाष्य

प्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत् पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव, अर्थास्तु ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टाः तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्, इन्द्रियाणां च ग्रहत्वम्, विषयाणामतिग्रहत्वम्, (बृ० ३।२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। विषयेभ्यश्च मनसः परत्वम्, मनोमूलत्वाद् विषयेन्द्रियव्यवहारस्य। मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति। बुद्धेरात्मा महान् परो यः स 'आत्मानं रथिनं

भाष्यका अनुवाद

दोषके निवारणके लिए उनका ही इस श्रुतिवाक्यमें ग्रहण किया जाता है। उनमेंसे इन्द्रिय, मन और बुद्धि पूर्ववाक्य में और यहां समान शब्दोंसे ही निर्दिष्ट हैं। अर्थ अर्थात् शब्द आदि विषय जो इन्द्रियरूप अश्वोंके मार्गरूपसे निर्दिष्ट हैं, वे इन्द्रियोंसे पर हैं, 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं०' (इन्द्रियाँ ग्रह हैं और विषय अतिग्रह हैं) ऐसा श्रुतिमें प्रसिद्ध है। और विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंका व्यवहार मनके अधीन है। बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है, क्योंकि भोग्य पदार्थ बुद्धिपर आरूढ होकर भोक्ताके पास जाते हैं। जो 'आत्मानं रथिनं विद्धि' (आत्माको रथी जानो) इस प्रकार रथीरूपसे

रत्नप्रभा

प्रकरणं शोधयित्वा शरीरस्य परिशेषताम् आनयति—**तत्रेन्द्रियेत्यादिना**। अर्थानां पूर्वमनुक्तिशङ्कां वारयन् परत्वम् उपपादयति—**अर्था इति**। गृह्णन्ति पुरुषपशुं बध्नन्तीति ग्रहाः—इन्द्रियाणि। तेषां ग्रहत्वं विषयाधीनम्, असति विषये तेषाम् अकिञ्चित्करत्वात्। ततो ग्रहेभ्यः श्रेष्ठाः अतिग्रहाः विषयाः इति बृहदारण्यके श्रवणात्। परत्वं श्रैष्ठ्याभिप्रायम्, न तु आन्तरत्वेन इति भावः। सविकल्पकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसपर कहते हैं—"तत्र य एव" इत्यादि। इस प्रकार प्रकरणका शोधन करके शरीर परिशेष—अवशिष्ट है, ऐसा दिखलाते हैं—"तत्रेन्द्रिय" इत्यादिसे। विषय पहले नहीं कहे गये हैं, इस शंकाका निराकरण करते हुए उनमें श्रेष्ठता दिखलाते हैं—"अर्थाः" इत्यादिसे। घ्राण, जिह्वा, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा, इन आठ इन्द्रियोंको श्रुतिने ग्रह कहा है, क्योंकि इन्द्रियां पुरुषरूपी पशुका ग्रहण—बन्धन करती हैं अर्थात् उसको अपने वशमें करती हैं। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ इस पुरुषपशुको गन्ध, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म और स्पर्शका उपहार नहीं करतीं तबतक इन्द्रियां स्वरूपसे पुरुष पशुको अपने वशमें नहीं कर सकतीं। इस प्रकार विषयोंके अधीन होनेसे इन्द्रियोंको ग्रह कहा है। उनसे विषय श्रेष्ठ हैं, अतः बृहदारण्यकमें वे अतिग्रह कहे गये हैं। परत्व श्रेष्ठताके अभिप्रायसे कहा

भाष्य

विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः । कुतः ? आत्मशब्दात् । भोक्तुश्च भोगोपकरणात् परत्वोपपत्तेः । महत्त्वं चाऽस्य स्वामित्वादुपपन्नम् । अथवा—

'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥' इति स्मृतेः,

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।' (श्वे० ६।१८) इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः, सा सर्वासां बुद्धीनां

भाष्यका अनुवाद

निर्दिष्ट महान् आत्मा है, वह बुद्धिसे श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मशब्दसे यह प्रत्यभिज्ञा होती है । भोक्ताको भोगकी सामग्रियोंसे श्रेष्ठ कहना ठीक ही है, स्वामी होनेसे वह महान् भी है । अथवा 'मनो महान् मतिर्ब्रह्मा०' (समष्टिबुद्धि मननशक्ति, भावी निश्चय, व्यापक, आत्मा, भोग्यवर्गकी नगरी, तात्कालिक निश्चय, कीर्तिशक्ति, त्रिकालनिश्चय, संवित्, चित्, और स्मृति कही जाती है) इस स्मृतिके अनुसार एवं 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं०' (जो पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव कराता है) इस श्रुतिके अनुसार प्रथम उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भकी बुद्धि सब बुद्धियोंकी आधार है । वही यहां महान्

रत्नप्रभा

ज्ञानम्-मनः, निर्विकल्पकम्—निश्चयात्मिका बुद्धिः, आत्मशब्दात् स एव बुद्धेः परः, प्रत्यभिज्ञायते इति शेषः । हिरण्यगर्भाभेदेन ब्रह्मादिपदवेद्या समष्टिबुद्धिः महान् इत्याह—**अथवेति** । (१) मननशक्तिः, (२) व्यापिनी, (३) भाविनिश्चयः, (४) ब्रह्मा—आत्मा, (५) भोग्यवर्गाश्रयः, (६) तात्कालिकनिश्चयः, (७) कीर्तिशक्तिः, (८) नियमनशक्तिः, (९) त्रैकालनिश्चयः, (१०) संविद्—अभिव्यञ्जिका, (११) चिद्, (१२) अध्यस्तातीतसर्वार्थग्राहिणी, समष्टिबुद्धिः इत्यर्थः । हिरण्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, आन्तरत्वके अभिप्रायसे नहीं । सविकल्पक ज्ञान मन है और निर्विकल्पक ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि है । 'आत्मशब्दात्'के बाद 'प्रत्यभिज्ञायते' इतना शेष समझना चाहिए अर्थात् आत्मशब्दसे प्रत्यभिज्ञा होती है कि वही बुद्धिसे पर है । हिरण्यगर्भसे अभिन्न ब्रह्मा आदि पदोंसे वाच्य समष्टिबुद्धि महान् है, ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । समष्टिबुद्धि मननशक्ति, व्यापक, भावी निश्चय, आत्मा, भोग्य पदार्थोंका आश्रय, तात्कालिक निश्चय, कीर्ति-शक्ति, नियमनशक्ति, त्रैकालिक निश्चय, अर्थको अभिव्यक्त करनेवाली, चित् और अध्यस्त अतीत सब पदार्थोंका स्मरण करानेवाली कही जाती है। यह हिरण्यगर्भकी बुद्धि है, इस विषय में

भाष्य

परमा प्रतिष्ठा, सेह महानात्मेत्युच्यते। सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते, तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः। एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्, परमार्थतस्तु परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात्। तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते तेषु। इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपद-दिदर्शयिषया समनुक्रामन् परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परिशिष्य-

भाष्यका अनुवाद

आत्मा कही गई है। यद्यपि पहले वह बुद्धिशब्दके ग्रहणसे गृहीत थी ही, तो भी यहां उसका पृथक् उपदेश है, क्योंकि वह भी हमारी बुद्धिसे श्रेष्ठ है, यह ठीक ही है। परन्तु इस पक्षमें अनन्तर आनेवाले परमात्मविषयक पुरुष-शब्दके ग्रहणसे रथी आत्माका ग्रहण समझना चाहिए, क्योंकि वास्तविक रीति-से परमात्मा और विज्ञानात्मामें कोई भेद नहीं है, इस प्रकार उनमें केवल एक शरीर ही बच जाता है। परम पदको दिखानेकी इच्छासे पूर्वकथित अन्य इन्द्रिय आदिका अनुसरण करनेवाला वेद यहां अवशिष्ट रहनेवाले अव्यक्तशब्द-

रत्नप्रभा

गर्भस्य इयं बुद्धिरस्ति इत्यत्र श्रुतिमाह—**य इति**। ननु अप्रकृता सा कथमुच्यते, तदुक्तौ च प्रधानेन किमपराद्धमित्यत आह—**सा चेति**। हिरुक्—पृथक्। पूर्वं व्यष्टिबुद्ध्यभेदेन उक्ता, अत्र ततो भेदेन परत्वमुच्यते इत्यर्थः। तर्हि रथरथिनौ द्वौ परिशिष्टौ स्याताम्, नेत्याह—**एतस्मिंस्त्विति**। अतो रथ एव परिशिष्ट इत्याह—**तदेवमिति**। तेषु पूर्वोक्तेषु षट्पदार्थेषु इत्यर्थः। परिशेषस्य फलमाह—**इतराणीति**। वेदो यमो वा इति शेषः। दर्शयति चेति सूत्रभागो व्याख्यातः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाण भूत श्रुतिको कहते हैं—"यः" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भकी बुद्धि तो प्रकृत नहीं है, वह कैसे कही गई, और वह जब कही गई तो प्रधानने क्या अपराध किया है? इसपर कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे। हिरुक्—पृथक्। पहले व्यष्टिबुद्धिसे हिरण्य-गर्भकी बुद्धि अभिन्नरूपसे कही गई है, यहां भिन्नरूपसे उससे श्रेष्ठ कही जाती है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भकी बुद्धि महान् आत्मा है, इस पक्षमें रथ और, जो भोक्ता रथी है, वे दोनों परिशिष्ट हैं, इसका निराकरण करते हैं—"एतस्मिंस्तु" इत्यादिसे। इसलिए रथमात्र परिशिष्ट है, ऐसा कहते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। 'तेषु'—पूर्वोक्त छः पदार्थोंमें। परिशेषका फल कहते हैं—"इतराणि" इत्यादिसे। 'दर्शयति'के बाद 'वेदः यमो वा' इतना शेष समझना चाहिए।

भाष्य

माणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते। शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता। तथा च—

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥' (का० १।३।१२)

इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति–

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥'

भाष्यका अनुवाद

से अवशिष्ट रहनेवाले प्रकृत शरीरको ही दिखलाता है ऐसा समझा जाता है। शरीर आदिकी रथ आदिके साथ रूपककल्पना द्वारा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और वेदनासे संयुक्त अविद्यावान् भोक्ताके संसारगमन और मोक्षगमनके निरूपणसे प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है, यह ज्ञान यहां विवक्षित है। इसी प्रकार 'एष सर्वेषु भूतेषु०' (सब प्राणियोंमें गूढ़ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता, परन्तु सूक्ष्मदर्शी—सूक्ष्मविषयोंके ग्रहणमें समर्थ एकाग्र बुद्धिसे उसका साक्षात्कार करते हैं) इस प्रकार विष्णुका परम पद दुर्ज्ञेय है ऐसा कहकर उसके ज्ञानके लिए 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः०' (प्राज्ञ पुरुष वाणीका मनमें लय करे, मनका बुद्धिमें, बुद्धिका महान् आत्मामें और महान् आत्माका शान्त आत्मामें

रत्नप्रभा

किञ्च, ब्रह्मात्मैकत्वपरे ग्रन्थे भेदवादिनां प्रधानस्याऽवकाशो नास्तीत्याह—**शरीरेत्यादिना**। भोगः–वेदना। काठकग्रन्थस्य ऐक्यतात्पर्ये गूढत्वज्ञेयत्वज्ञानहेतुयोगविधयो लिङ्गानि सन्ति इत्याह—**तथा चेत्यादिना**। अग्र्या–समाधिपरिपाकजा। वागिति—अत्र द्वितीयालोपश्छान्दसः, मनसीति दैर्घ्यं च॥ १॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस ग्रन्थसे 'दर्शयति च' इस सूत्रभागका व्याख्यान हुआ। ब्रह्म और जीवकी एकताका प्रतिपादन करनेवाले इस ग्रन्थमें भेदवादियोंके प्रधानकी चर्चाका अवकाश ही नहीं है, ऐसा कहते हैं— "शरीर" इत्यादिसे। वेदना— सुख आदिका अनुभव। काठक ग्रन्थका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यमें है, गूढत्व, ज्ञेयत्व और ज्ञानकी हेतु योगविधियाँ इसकी समर्थक हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। 'अग्र्या'—समाधिपरिपाकसे उत्पन्न हुई। 'यच्छेद्वाङ्मनसी'—'वाचं' 'मनसि', इनमें द्वितीयाका लोप और इकारका दीर्घत्व छान्दस है॥ १॥

भाष्य

(का० २।३।१३) इति । एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत्, वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणाऽवतिष्ठेत । मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसायस्वभावायां धारयेत् । तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत्, महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन् पुरुषे परस्यां काष्ठायां प्रतिष्ठापयेदिति । तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधानस्याऽवकाशः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

लय करे) यह श्रुति योग दिखलाती है । इसका तात्पर्य यह है कि वाणीका मनमें लय करे अर्थात् वाक् आदि बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारका त्याग करके केवल मनरूपसे अवस्थित रहे । मनमें भी विषयसम्बन्धी विकल्प उठते हैं, अतः उसमें विकल्परूपी दोषके दर्शनसे उसका ज्ञानशब्दसे कथित निश्चयात्मक बुद्धिमें लय करे । उस बुद्धिका भी महान्—आत्मा भोक्तामें अथवा समाधिके परिपाकसे जात बुद्धिमें सूक्ष्मतासम्पादन द्वारा लय करे । उस महान् आत्माका प्रकरणप्राप्त चरम सीमा शान्त आत्मा—परब्रह्ममें लय करे । इस प्रकारसे पूर्वापर पर्यालोचन करनेपर सिद्ध होता है कि प्रतिपक्षी द्वारा कल्पित प्रधानका यहां अवकाश ही नहीं है ॥१॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

पदच्छेद—सूक्ष्मम्, तु, तदर्हत्वात् ।

पदार्थोक्ति—सूक्ष्मं तु—स्थूलशरीरारम्भकं भूतसूक्ष्मं [अव्यक्तपदेन गृह्यते, कुतः] तदर्हत्वात्—अव्यक्तशब्दार्हत्वात् ।

भाषार्थ—स्थूलशरीरके आरम्भक भूतोंका सूक्ष्म भाग जो सूक्ष्म शरीर कहलाता है, उसीका अव्यक्तशब्दसे ग्रहण होता है, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ ही अव्यक्त शब्दके योग्य है अर्थात् अव्यक्तशब्दवाच्य है ।

भाष्य

उक्तमेतत्—प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दम्, न प्रधानमिति। इदमिदानीमाशङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात् स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति। अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते, सूक्ष्मस्याऽव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः, यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४६।४)

भाष्यका अनुवाद

प्रकरण और परिशेषसे कहा गया है कि अव्यक्तशब्द शरीरवाचक है, प्रधानवाचक नहीं है। अब यह शङ्का होती है कि जब स्थूल होनेके कारण शरीर स्पष्टतया व्यक्तशब्दप्रतिपाद्य प्रतीत हो रहा है तब वह अव्यक्तशब्दवाच्य कैसे है? अव्यक्तशब्द तो अस्पष्टका वाचक है। इसलिए उत्तर कहते हैं—यहां अव्यक्तशब्दसे कारणरूपसे सूक्ष्म शरीर विवक्षित है, क्योंकि सूक्ष्म अव्यक्तशब्दका वाच्य है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वरूपसे अव्यक्तशब्दके योग्य नहीं है, तो भी उसके आरम्भक भूतसूक्ष्म अव्यक्तशब्दके योग्य हैं। और प्रकृतिवाचक शब्द विकार अर्थमें प्रयुक्त होता है, जैसे कि 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्०' (गायके

रत्नप्रभा

सूक्ष्मं त्विति। शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—उक्तमेतदित्यादिना। कार्यकारणयोः अभेदात् मूलप्रकृतिवाचकाव्यक्तशब्देन विकारो लक्ष्यते इत्यर्थः। गोभिः—गोविकारैः पयोभिः, मत्सरम्—सोमं श्रीणीत—मिश्रितं कुर्यादिति यावत्। "श्रीञ् पाके" इति धातोर्लोटि मध्यमपुरुषबहुवचनम् एतत्। अव्यक्तात्मना

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंकाके उत्तररूपसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"उक्तमेतत्" इत्यादिसे। कार्य और कारणके अभिन्न होनेसे मूलप्रकृतिवाचक अव्यक्तशब्दसे विकार लक्ष्य होता है, ऐसा अर्थ है। 'गोभिः'—गायके विकार अर्थात् दूधके साथ मत्सर अर्थात् सोमको मिलावे, ऐसा अर्थ है। पाकार्थक 'श्रीञ्' धातुके लोट्के मध्यम पुरुषके बहुवचनका यह रूप है।

---

(१) श्रुतिमें धातुओंके अनेक अर्थ होनेसे मिश्रण रूप अर्थ लिया गया है।

भाष्य

इति । श्रुतिश्च–'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।७) इति इदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत् प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

विकार—दूधके साथ सोमरसका मिश्रण करना चाहिए)। श्रुति भी 'तद्धेदं०, (तब—प्राक् अवस्थामें यह जगत् अव्याकृत[1] था) इस प्रकार जिसमें नाम रूप व्याकृत हैं, ऐसे विभिन्न इसी जगत्को व्याकृत नाम रूपोंका जिसने पूर्व अवस्थामें त्याग किया है जो बीजशक्तिरूप है, उसीको अव्यक्तशब्दके योग्य दिखलाती है ॥२॥

रत्नप्रभा

कार्यस्य अव्यक्तशब्दयोग्यत्वे मानमाह—श्रुतिश्चेति । तर्हि—प्रागवस्थायाम् इदं जगद् अव्याकृतमासीत्, ह–किलेत्यर्थः । बीजरूपा शक्तिः संस्कारः तदवस्थम् ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अव्यक्तशब्द अव्यक्तकार्यका वाचक है, इसमें प्रमाण देते हैं—''श्रुतिश्च'' इत्यादिसे । तर्हि—सृष्टिसे पहले । इदम्—यह जगत् अव्याकृत था । 'ह' शब्द इतिवृत्तका सूचक है । बीजरूप जो शक्ति अर्थात् संस्कार, तद्रूप जगत् ॥२॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—तदधीनत्वाद्, अर्थवत् ।

पदार्थोक्ति—तदधीनत्वाद्—ईश्वराधीनत्वाद् [अव्यक्तस्य न स्वतन्त्रता], अर्थवत्—[ईश्वरसहकारित्वात् अव्यक्तं] प्रयोजनवत् ।

भाषार्थ—अव्यक्त ईश्वरके अधीन होनेसे स्वतंत्र नहीं है और जगत्की सृष्टिमें ईश्वरका सहायक होनेसे सार्थक है ।

(१) नामरूप आदिसे व्याकार—स्पष्टीकरणको न प्राप्त हुआ, अव्यक्त ।

भाष्य

अत्राह–यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याऽप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकरणवाद एवं सत्यापद्येत। अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाऽभ्युपगमात् इति।

अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां काञ्चित् प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाऽभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चाऽवश्याभ्युपगन्तव्या, अर्थवती हि सा। नहि तया विना परमेश्वरस्य

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी कहता है—नाम और रूपकी अभिव्यक्तिसे शून्य पूर्वावस्थामें स्थित बीजात्मक यह जगत् यदि अव्यक्तशब्दप्रतिपाद्य माना जाय और उस रूपसे शरीर भी अव्यक्तशब्दप्रतिपाद्य है, ऐसी यदि प्रतिज्ञा की जाय, तो ऐसा होनेसे उसी प्रधानकारणवादकी प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि प्रधान ही इस जगत्की प्रागवस्थारूपसे स्वीकृत हुआ है।

सिद्धान्ती इसपर कहते हैं—यदि हम जगत्के कारणरूपसे किसी एक स्वतंत्र प्रागवस्थाका स्वीकार करें तो हम प्रधान कारणवादके अनुयायी हो सकते हैं, परन्तु हम जगत्की प्रागवस्थाको परमेश्वरके अधीन मानते हैं, स्वतंत्र नहीं मानते। वह अवस्था तो अवश्य ही माननी पड़ेगी, क्योंकि उप-

---

रत्नप्रभा

तदिति। अपसिद्धान्तशङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—अत्राहेत्यादिना। तर्हि–तदा, एवं सति–सूक्ष्मशब्दितप्रागवस्थाभ्युपगमे सति।

ईश्वरे कल्पिता तन्नियम्येत्यङ्गीकारात् न अपसिद्धान्त इत्याह–अत्रोच्यते इत्यादिना। कूटस्थब्रह्मणः स्रष्टृत्वसिद्ध्यर्थमविद्या स्वीकार्या इत्युक्तम्। बन्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपसिद्धान्तशङ्काके उत्तररूपसे सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। 'तर्हि'—तब। एवं सति—सूक्ष्मसंज्ञक प्रागवस्थाका स्वीकार करनेपर अर्थात् पूर्वावस्थासे युक्त जगत् अव्यक्तशब्दके योग्य है, ऐसा माननेपर। जगत्की पूर्वावस्था ईश्वरमें कल्पित है और ईश्वरके अधीन है, ऐसा अंगीकार करनेसे कोई अपसिद्धान्त नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। कूटस्थ ब्रह्मका स्रष्टृत्व सिद्ध करनेके लिए अविद्याका स्वीकार करना

भाष्य

स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'

भाष्यका अनुवाद

योगिनी है। उसके बिना परमेश्वर स्रष्टा ही नहीं हो सकता, क्योंकि शक्तिशून्य होनेसे उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। मुक्त आत्माओंके बन्धकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि विद्यासे उस बीजशक्तिका नाश हो जाता है। अविद्यास्वरूप वह बीजशक्ति अव्यक्तशब्दसे कही जाती है, परमेश्वरके आश्रित रहती है, मायामयी एवं महासुषुप्ति है, जिसमें स्वरूपके ज्ञानसे रहित संसारी जीव सोते हैं। वह अव्यक्त कहीं आकाशशब्दसे कहा गया है, क्योंकि 'एतस्मिन्नु०' (हे गार्गि ! इस अविनाशी तत्त्वमें आकाश ओत-प्रोत है) ऐसी

रत्नप्रभा

मुक्तिव्यवस्थार्थमपि सा स्वीकार्या इत्याह—**मुक्तानामिति**। यन्नाशात् मुक्तिः सा स्वीकार्या, तां विनैव सृष्टौ मुक्तानां पुनः बन्धापत्तेरित्यर्थः। तस्याः परपरिकल्पितसत्यस्वतन्त्रप्रधानाद् वैलक्षण्यमाह—**अविद्येत्यादिना**। मायामयी—प्रसिद्धमायोपमिता लोके मायाविनो मायावत् परतन्त्रेत्यर्थः। जीवभेदोपाधित्वेनाऽपि सा स्वीकार्या इत्याह—**महासुषुप्तिरिति**। बुद्ध्याद्युपाधिभेदाद् जीवा इति बहूक्तिः। अविद्यायां श्रुतिमप्याह—**तदेतदिति**। आकाशहेतुत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए ऐसा पीछे कहा गया है, अब बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाके लिए भी उसका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"मुक्तानाम्" इत्यादिसे। जिसके नाशसे मुक्ति होती है, उस अविद्याका स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना ही सृष्टि होनेपर मुक्त पुरुषोंका फिर बन्धन हो जायगा, ऐसा तात्पर्य है। यह अविद्या सांख्यपरिकल्पित सत्य और स्वतंत्र प्रधानसे विलक्षण है, ऐसा कहते—"अविद्या" इत्यादिसे। 'मायामयी'—प्रसिद्ध मायासदृश, लोकमें जैसे माया मायावीके अधीन होती है, वैसे ही अविद्या परतंत्र है, प्रधानके समान स्वतंत्र नहीं है। जीवभेदका कारण उपाधिरूपसे भी अविद्याका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"महासुषुप्ति" इत्यादिसे। बुद्धि आदि उपाधियोंके भेदसे 'जीवाः' ऐसा बहुवचन कहा है। अविद्याकी सत्तामें प्रमाणरूपसे श्रुतिको उद्धृत करते हैं—"तदेतत्" इत्यादिसे। आकाशकी

भाष्य

(बृ० ३ । ८ । ११) इति श्रुतेः। क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—'अक्षरात्परतः परः' (मु० २ । १) इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचितम्—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४ । १०) इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याऽशक्यत्वात्। तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तमव्यक्तप्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान्। यदा तु जीवो महान्, तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य महतः परम-

भाष्यका अनुवाद

श्रुति है। कहीं अक्षरशब्दसे कहा गया है, क्योंकि 'अक्षरात्०' (सर्वश्रेष्ठ अक्षरसे उत्कृष्ट) ऐसी श्रुति है। और कहीं वह मायाशब्दसे सूचित है, क्योंकि 'मायां तु०' (प्रकृतिको माया जाने और महेश्वरको मायावी जाने) ऐसी श्रुति है। वह माया अव्यक्त है, क्योंकि वह ब्रह्मसे अभिन्न है या भिन्न है, ऐसा उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। यदि महत्का अर्थ हिरण्यगर्भकी बुद्धि हो, तो अव्यक्तसे महत् उत्पन्न होता है, इसलिए 'महतः परमव्यक्तम्' (महत्से पर अव्यक्त है) यहांपर वही पूर्वावस्था कही गई है। यदि महत् शब्दका अर्थ जीव हो, तो भी जीवभावके अव्यक्ताधीन होनेसे 'महतः०' ऐसा कहा है।

रत्नप्रभा

आकाशः। ज्ञानं विना अन्ताभावात् अक्षरम्, विचित्रकारित्वात् माया इति भेदः। इदानीम् अविद्याया ब्रह्माभेदान्यत्वाभ्याम् अनिर्वाच्यत्वेन अव्यक्तशब्दार्हत्वमाह—**अव्यक्तेति**। तस्य महतः परत्वं कथमित्यत आह—**तदिदमिति**। यदा बुद्धिर्महान्, तदा तद्धेतुत्वात् परत्वम् इत्यन्वयः। प्रतिबिम्बस्य उपाधिपरतन्त्रत्वात् उपाधेः प्रतिबिम्बात् परत्वमाह—**यदा त्विति**। हेतुं स्फुटयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु होनेसे अविद्या आकाश कही गई है, तत्त्वज्ञानके बिना वह निवृत्त नहीं होती, अतः अक्षर—अविनाशी कही गई है और विचित्र कार्य करनेवाली होनेसे माया कही गई है, ऐसा भेद है। अविद्या ब्रह्मसे अभिन्न है या भिन्न है, यह निर्वचन नहीं किया जा सकता, इसलिए अनिर्वाच्य होनेसे वह अव्यक्तशब्दके योग्य है, ऐसा कहते हैं—"अव्यक्त" इत्यादिसे। अव्यक्त महत्से पर किस प्रकार है? इसपर कहते हैं—"तदिदम्" इत्यादिसे। 'यदा बुद्धिः··· परत्वम्" (बुद्धि महान् है, इस पक्षमें उसका कारण होनेसे अव्यक्त उससे श्रेष्ठ है) ऐसा अन्वय है। उपाधिके अधीन होनेसे प्रतिबिम्बसे उपाधि श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—"यदा तु"

भाष्य

व्यक्तमित्युक्तम्। अविद्या ह्यव्यक्तम्, अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः सन्ततो वर्तते। तच्चाऽव्यक्तगतं महतः परत्वमभेदोपचारात् तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते। सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात् परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य।

अन्ये तु वर्णयन्ति—द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरि-

भाष्यका अनुवाद

निश्चय यह अव्यक्त अविद्या है। अविद्यायुक्त होनेसे ही जीवके सब व्यवहार सदा चलते जाते हैं। महत्से परत्व जो कि अव्यक्तमें है, उसकी अभेदोपचारसे उसके विकार शरीरमें कल्पना की जाती है। यद्यपि शरीरके समान इन्द्रिय आदि भी उसके विकार हैं, तो भी अभेदोपचारसे अव्यक्तशब्दसे शरीरका ही ग्रहण होता है, क्योंकि इन्द्रिय आदिका अपने वाचक शब्दोंसे ही ग्रहण किया गया है और शरीरमात्र ही अवशिष्ट है।

दूसरे आचार्य तो इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—शरीर दो प्रकारका है, स्थूल और सूक्ष्म। जो उपलब्ध होता है, वह स्थूल है और सूक्ष्म आगे 'तदन्तर

रत्नप्रभा

अविद्येति। अव्यक्तस्य परत्वेऽपि शरीरस्य किं जातं तदाह—तच्चेति। ननु इन्द्रियादीनाम् अपि अव्यक्ताभेदात् अव्यक्तत्वं परत्वं च किमिति नोच्यते, तत्राऽऽह—सत्यपीति।

सूत्रद्वयस्य वृत्तिकृद्व्याख्यानम् उत्थापयति—अन्ये त्विति। पञ्चीकृतभूतानां सूक्ष्मा अवयवाः स्थूलदेहारम्भकाः। सूक्ष्मशरीरं प्रतिजीवं लिङ्गस्य आश्रयत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। "अविद्या" इत्यादिसे हेतुको स्पष्ट करते हैं। भले ही अव्यक्त पर हो, किन्तु इससे शरीर अव्यक्त है, यह कैसे सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि इन्द्रिय आदि भी अव्यक्तसे अभिन्न हैं, तो वे भी अव्यक्त तथा पर क्यों नहीं कहे जाते हैं, इसपर कहते हैं—"सत्यपि" इत्यादि।

दोनों सूत्रोंका वृत्तिकाराभिमत व्याख्यान करते हैं—"अन्ये तु" इत्यादिसे। पञ्चीकृत भूतोंके सूक्ष्म अवयव स्थूल देहके आरम्भक हैं। लिंग शरीरके आश्रयरूपसे प्रत्येक जीवका

भाष्य

व्यक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० ३।१।१) इति । तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात् पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्, इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते, सूक्ष्मस्याऽव्यक्तशब्दार्हत्वात् । तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्, यथाऽर्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति । तैस्त्वेतद् वक्तव्यम्, अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात् समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते न पुनः स्थूलमपीति । आम्नातस्याऽर्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाऽऽम्नातं

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपत्तौ०' सूत्रमें कहा जायगा । वे दोनों शरीर समानरूपसे पूर्ववाक्यमें रथरूपसे कहे गये हैं । यहां अव्यक्तशब्दसे केवल सूक्ष्म शरीरका ग्रहण होता है, क्योंकि सूक्ष्मका ही अव्यक्तशब्दसे प्रतिपादन होता है । जैसे इन्द्रियोंका व्यापार अर्थोंके अधीन होनेसे अर्थ इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ कहे गये हैं, वैसे ही बन्ध और मोक्षका व्यवहार सूक्ष्म शरीरके अधीन होनेसे वह जीवसे पर—श्रेष्ठ कहा गया है । परन्तु उस मतवालोंसे यह पूछना चाहिए कि पूर्ववाक्यमें रथशब्दसे दोनों शरीरोंके समानरूपसे प्रतिपादित होनेके कारण दोनों समान रीतिसे प्रकृत और परिशिष्ट हैं, ऐसी स्थितिमें यहां अव्यक्तशब्दसे सूक्ष्म शरीरका ग्रहण क्यों होता है और स्थूलका क्यों नहीं होता ? हम वेदका अर्थ ग्रहण कर

रत्नप्रभा

नियतमस्ति इति वक्ष्यते । देहान्तरप्राप्तौ तेन युक्तो गच्छति परलोकमित्यर्थः । कथं तस्य महतो जीवात् परत्वम् इति आशङ्क्य द्वितीयसूत्रं व्याचष्टे—**तदधीनत्वाच्चेति** । अर्थवत् इति सूत्रस्थदृष्टान्तम् आह—**यथेति** । तद्व्याख्यानं दूषयति—**तैरिति** । अव्यक्तपदबलात् प्रकृतमपि स्थूलं त्यज्यते इति शङ्कते—**आम्नातस्येति** । एकार्थबोधकानां शब्दानां मिथ आकाङ्क्षया

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूक्ष्मशरीर अवश्य रहता है, ऐसा कहेंगे । देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर जीव उससे युक्त होकर परलोक जाता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है । महत् जीवसे पर किस प्रकार है, ऐसी आशंका करके दूसरे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तदधीनत्वाच्च" इत्यादिसे । सूत्रस्थ 'अर्थवद्' इस दृष्टान्तको कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । वृत्तिकारके मतका निराकरण करते हैं—"तैः" इत्यादिसे । अव्यक्तपदके बलसे प्रकृत स्थूल शरीरका भी त्याग होता है, ऐसी शंका करते हैं—"आम्नातस्य" इत्यादिसे ।

भाष्य

पर्यनुयोक्तुम्, आम्नातं चाऽव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरद् व्यक्तत्वात् तस्येति चेत्, नः एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। नहीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कञ्चिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। न चाऽऽकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति, तत्राऽविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथाकाङ्क्षं सम्बन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति, कुत आम्नातस्यार्थप्रतिपत्तिः।

भाष्यका अनुवाद

सकते हैं, उसपर आक्षेप नहीं कर सकते, वेदोक्त अव्यक्तशब्द सूक्ष्मका ही बोध करा सकता है, स्थूलका बोध नहीं करा सकता, क्योंकि वह व्यक्त है, ऐसा यदि कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थबोध एकवाक्यताके अधीन है। ये दोनों पूर्व और उत्तर वाक्य एकवाक्यता प्राप्त किये बिना किसी भी अर्थका बोध नहीं करा सकते, अन्यथा प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रक्रियाकी प्राप्ति होगी। और आकांक्षाके बिना एकवाक्यताका बोध नहीं हो सकता, ऐसी स्थितिमें दोनों शरीरोंकी ग्राह्यत्वाकांक्षा समान होनेसे आकांक्षाके अनुसार संबन्धका स्वीकार न करें तो एकवाक्यताका ही बाध हो जायगा, फिर वेदवाक्यके अर्थका बोध

रत्नप्रभा

एकस्यां बुद्धौ आरूढत्वम्—एकवाक्यता, तव मते तस्या अभावात् कुतोऽर्थबोध इति समाधत्ते—**नेति**। तां विनाऽपि अर्थधीः किं न स्यादित्यत आह—**नहीति**। शरीरशब्देन रूढ्या स्थूलं प्रकृतम्, तस्य हानिः, अप्रकृतस्य भूतसूक्ष्मस्य अव्यक्तपदेन ग्रहणमन्याय्यं स्यादित्यर्थः। अस्तु एकवाक्यता इत्यत आह—**न चेति**। ततः किं तत्राऽऽह—**तत्रेति**। आकाङ्क्षया वाक्यैकवाक्यत्वे सति प्रकृतं शरीरद्वयमव्यक्तपदेन ग्राह्यम्, आकाङ्क्षायास्तुल्यत्वादिति भावः। अनात्मनिश्चयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक अर्थका बोध करानेवाले शब्दोंका परस्पर आकांक्षासे एक बुद्धिमें आरूढ होना एकवाक्यता है, तुम्हारे मतमें एकवाक्यताका अभाव होनेसे अर्थबोध किस प्रकार होगा अर्थात् नहीं हो सकता है, ऐसा समाधान करते हैं—"न" इत्यादिसे। उसके बिना भी अर्थज्ञान क्यों नहीं होगा, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। शरीरशब्दसे रूढिद्वारा स्थूल शरीर प्रकृत है, उसकी हानि होगी और अप्रकृत जो भूतोंके अवयव हैं, उनका अव्यक्तपदसे ग्रहण अनुचित होगा अर्थात् इस प्रकार प्रकृतकी हानि और अप्रकृतके ग्रहण करनेका प्रसंग आवेगा। तब यहां भी एकवाक्यता हो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। आकांक्षासे वाक्योंकी एक-

भाष्य

न चैवं मन्तव्यम्--दुःशोधत्वात् सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणम्, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणम् इति। यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद् विवक्ष्यते। नह्यत्र शोधनविधायि किञ्चिदाख्यातमस्ति, अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह विवक्ष्यते। तथा हीदमस्मात् परमिद-

भाष्यका अनुवाद

ही कहांसे होगा। ऐसा मानना कि सूक्ष्म शरीरका शोधन दुष्कर होनेसे उसीका यहां ग्रहण है और स्थूल शरीरकी तो बीभत्सता देखनेमें आती है, इसलिये शोधन सुकर होनेसे उसका ग्रहण नहीं है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहां किसी के शोधनकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि शोधनका विधान करनेवाला यहां कोई क्रियापद नहीं है। विष्णुका परम पद क्या है, यह पीछेसे निर्दिष्ट होनेसे उसीकी

रत्नप्रभा

शुद्धिः, तदर्थं सूक्ष्ममेव आकाङ्क्षितं ग्राह्यम्; सूक्ष्मत्वेन आत्माभेदेन गृहीतस्य दुश्शोधत्वात्। स्थूलस्य दृष्टदौर्गन्ध्यादिना लशुनादिवदनात्मत्वधीवैराग्ययोः सुलभत्वादिति शङ्कते—**न चैवमिति**। दृष्टा बीभत्सा घृणा यस्मिंस्तस्य भावः तत्ता तयेत्यर्थः। दूषयति—**यत इति**। वैराग्याय शुद्धिरत्र न विवक्षिता, विध्यभावात्, किन्तु वैष्णवं परमं पदं विवक्षितमिति तद्दर्शनार्थं प्रकृतं स्थूलमेव अव्यक्तपदेन ग्राह्यमिति भावः। किञ्च, सूक्ष्मस्य लिङ्गान्तःपातिन इन्द्रियादिग्रहणे-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्यता होती है, इसलिए प्रकृत दोनों शरीरोंका अव्यक्त पदसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें आकांक्षा समान है, ऐसा तात्पर्य है। अनात्मनिश्चय शुद्धि अर्थात् शोधन है, उसके लिए सूक्ष्म शरीरकी ही आकांक्षा है, अतः उसीका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वह सूक्ष्म है, अतः आत्माके साथ उसका अभिन्नरूपसे ग्रहण होनेके कारण उसका शोधन करना मुश्किल है। स्थूल शरीरमें दुर्गन्ध आदि देखनेमें आते हैं, इसलिए लहसुन आदिके समान उसमें अनात्मनिश्चय और वैराग्य सुलभ है, ऐसी शंका करते हैं--''न चैवम्'' इत्यादिसे। शंकाका निराकरण करते हैं--''यतः'' इत्यादिसे। वैराग्यके लिए शुद्धि-अनात्मत्वनिश्चयकी यहां विवक्षा नहीं है, क्योंकि उसका कोई विधान नहीं है, किन्तु विष्णुके परम पदकी विवक्षा है, इसलिए उसको दिखानेके लिए प्रकृत स्थूल शरीरका ही अव्यक्तपदसे ग्रहण है। लिंगके अन्तर्भूत सूक्ष्म शरीरका इन्द्रिय आदिके ग्रहणसे ही ग्रहण होनेके कारण अव्यक्त और शरीर

भाष्य

मस्मात् परमित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्याह। सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथा नामाऽस्तु, न नः किञ्चिच्छिद्यते ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

यहां विवक्षा है, क्योंकि यह इससे पर है, यह इससे पर है, ऐसा कहकर 'पुरुषान्न०' (पुरुषसे कुछ पर नहीं) ऐसा श्रुति कहती है। सब प्रकारसे अनुमाननिरूपित प्रधानका निराकरण उपपन्न होता हो, तो भले ऐसा हो, इससे हमारी कुछ भी हानि नहीं है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

नैव ग्रहणात् न पृथगव्यक्तशरीरपदाभ्यां ग्रहः। अभ्युपेत्याऽऽह—**सर्वथेति**। स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वा ग्रहेऽपि इत्यर्थः। **तथा नामेति**। सूक्ष्ममेव अव्यक्तमस्तु इत्यर्थः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदसे उसका पृथक् ग्रहण नहीं होता। भले सूक्ष्म शरीर ही शोधन करने योग्य हो, तो भी सांख्याभिमत प्रधान यहांपर नहीं है, ऐसा स्वीकारपूर्वक कहते हैं—"सर्वथा" इत्यादिसे। अर्थात् स्थूल या सूक्ष्मका ग्रहण करें, तो भी। "तथा नाम"—तुम्हारी इच्छासे अव्यक्तशब्दसे सूक्ष्मका ही ग्रहण हो ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—ज्ञेयत्वावचनात्, च।

पदार्थोक्ति—ज्ञेयत्वावचनात्—अव्यक्तस्य ज्ञेयत्वानभिधानाद्, च—अपि [न अत्र अव्यक्तं प्रधानम्]।

भाषार्थ—इस प्रकरणमें अव्यक्तको ज्ञेय नहीं कहा है, इससे भी स्पष्ट है कि इस श्रुतिमें उक्त अव्यक्तशब्द प्रधानका वाचक नहीं है।

भाष्य

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यमिति वदद्भिः, नहि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्याऽन्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते, पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः, नेहाऽव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। न चाऽनुपदिष्टं पदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं

भाष्यका अनुवाद

गुण और पुरुषके भेदके ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा कहते हुए सांख्य प्रधानका ज्ञेयरूपसे स्मरण करते हैं, क्योंकि गुणोंका स्वरूप जाने बिना गुणोंसे पुरुषका भेद नहीं जाना जा सकता। और विशिष्ट विभूति—शक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रधान ज्ञेय है, ऐसा भी कहीं-कहीं कहते हैं। परन्तु यहाँ अव्यक्तशब्द केवल एक पद है। अव्यक्तका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए या उसकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा वाक्य नहीं है। और अनुपदिष्ट—उपदेश न किये हुए

रत्नप्रभा

अत्र अव्यक्तं प्रधानं न इत्यत्र हेत्वन्तरार्थं सूत्रम्—ज्ञेयत्वेति। सत्त्वादि-गुणरूपात् प्रधानात् पुरुषस्य अन्तरम्—भेदः तज्ज्ञानादित्यर्थः। 'नहि शक्यम्' इति च वदद्भिः प्रधानं ज्ञेयत्वेन स्मर्यते इति सम्बन्धः। न केवलं भेदप्रतियोगित्वेन प्रधानस्य ज्ञेयत्वं तैरिष्टम्, किन्तु तस्य उपासनयाऽणिमादिप्राप्तयेऽपि इत्याह—क्वचिच्चेति। ज्ञानविध्यभावेऽपि अव्यक्तपदजन्यज्ञानगम्यत्वम् आर्थिकं ज्ञेयत्वमस्ति इत्यत आह—न चानुपदिष्टमिति। उपदिष्टं हि ज्ञानं फलवदिति ज्ञातुं शक्यम्, निष्फलस्योपदेशायोगाद् अव्यक्तस्य च ज्ञानानुपदेशात् सफलज्ञानगम्यत्वासिद्धिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अव्यक्त प्रधान नहीं है, इस विषयमें दूसरे हेतुका प्रदर्शन करनेके लिए "ज्ञेयत्व" इत्यादि सूत्र है। सत्त्व आदि गुणरूप प्रधानसे पुरुष भिन्न है, इस ज्ञानसे, ऐसा अर्थ है। 'ज्ञेयत्वेन सांख्यैः' इत्यादि भाष्यमें 'नहि शक्यं······स्मर्यते' ऐसा संबन्ध समझना चाहिए। प्रधान केवल पुरुषसे भिन्नरूपसे ज्ञेय है, इतना ही मात्र सांख्य नहीं मानते, किन्तु प्रधानकी उपासनासे अणिमा आदिकी प्राप्ति होती है, इससे भी उसको ज्ञेयरूपसे मानते हैं, ऐसा कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे। यद्यपि ज्ञानका विधान नहीं है, तो भी अव्यक्तपदजन्य ज्ञानसे आर्थिक ज्ञेयत्व जाना जाता है, इस शंकाका निराकरण करते हैं—"न चानुपदिष्टम्" इत्यादिसे। उपदिष्ट ज्ञान ही फलयुक्त है, इसलिए उसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है, क्योंकि फलरहितका उपदेश अयुक्त है। अव्यक्तका ज्ञेयरूपसे उपदेश नहीं है, इसलिए वह फलवान

भाष्य

प्रतिपत्तुम् । तस्मादपि नाऽव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते । अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

पदार्थका ज्ञान पुरुषार्थ—पुरुषोपयोगी है, ऐसा नहीं कह सकते । इससे भी अव्यक्तशब्दसे प्रधानका अभिधान नहीं है । हमारे मतमें तो रथके साहश्यसे कल्पित शरीर आदिके आश्रयण द्वारा विष्णुका ही परम पद दिखलानेके लिए यह उपन्यास—कथन है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । फलितमाह—**तस्मादिति** । सांख्येष्टसफलज्ञानगम्यत्वावचनाच्च इत्यर्थः । ननु शरीरस्याऽपि ज्ञेयत्वानुक्तेः कथमिह ग्रहणम्, तत्राह—**अस्माकं त्विति** । अस्मन्मते विष्ण्वाख्यपदस्य एकस्यैव ज्ञेयत्वात् तद्दर्शनार्थम् अव्यक्तपदेन शरीरोपन्यासो युक्त इत्यर्थः । साधारणशब्दमात्रात् न प्रधानस्य प्रत्यभिज्ञा, स्मार्तलिङ्गस्य अनुक्तया नियामकाभावाद् इति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञानगम्य हो, यह सिद्ध नहीं होता । फलित कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । अर्थात् सांख्याभिमत सफलज्ञानगम्यत्वका कथन न होनेसे । परन्तु शरीर भी तो ज्ञेयरूपसे नहीं कहा गया, उसका यहां ग्रहण किस प्रकार होता है ? इसपर कहते हैं—"अस्माकं तु" इत्यादि । हमारे मतमें केवल विष्णुसंज्ञक पद ज्ञेय है, इसलिए उसके दर्शनके लिए अव्यक्तपदसे शरीरका उपन्यास युक्त है, ऐसा अर्थ है । साधारण शब्दमात्रसे प्रधानका प्रत्यभिज्ञान नहीं होता, क्योंकि स्मार्त (अव्यक्त) का लिंग नहीं कहा गया इसलिए कुछ नियामक नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—वदति, इति, चेत्, न, प्राज्ञः, हि, प्रकरणात् ।

पदार्थोक्ति—वदति—'महतः परं ध्रुवं निचाय्य' इत्युत्तरवाक्यं प्रधानं ज्ञेयत्वेन वदति, इति चेत्, न, प्राज्ञो हि—परमात्मैव निचाय्यत्वेनोक्तः [कुतः] प्रकरणात्—'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्यात्मप्रकरणात् ।

भाषार्थ—'महतः परं०' (महत्से उत्कृष्ट अविनाशीको जानकर) यह अग्रिमवाक्य प्रधानको ज्ञेय कहता है—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'पुरुषान्न०' (पुरुषसे श्रेष्ठ कोई नहीं है) इस प्रकार आत्माका प्रकरण होनेसे परमात्मा ही उक्त वाक्यमें ज्ञेय कहा गया है ।

भाष्य

अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम्, कथम्? श्रूयते ह्युत्तरत्राऽव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥'

(का० २।३।१५) इति। अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्, तस्मात् प्रधानमेवेदम्, तदेव चाऽव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति।

अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्, प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते। कुतः? प्रकरणात्। प्राज्ञस्य हि प्रकरणं विततं वर्तते, 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः'

भाष्यका अनुवाद

यहां सांख्य कहते हैं—'ज्ञेयत्वावचनात्' यह हेतु असिद्ध है। क्योंकि 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं०' (शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, अव्यय, रसरहित, गन्धरहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्‌से पर तथा अविनाशी तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मृत्युके मुखसे छुटकारा पा जाता है) इस उत्तर वाक्यमें अव्यक्तशब्दसे प्रतिपादित प्रधानका ज्ञेयत्वरूपसे निर्देश है। जैसा शब्दादिहीन प्रधान महत्‌से पर स्मृतिमें निरूपित है, वैसा ही यहां ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट हुआ है, इसलिए यह प्रधान ही है और वही अव्यक्तशब्दसे निर्दिष्ट है।

यहां हम कहते हैं—प्रतीत होता है कि यहां प्रधान ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु प्राज्ञ परमात्मा ही ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट है। किससे? प्रकरणसे। प्राज्ञका ही प्रकरण चला हुआ है, क्योंकि 'पुरुषान्न परं०' (पुरुषसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है, वह परम सीमा है वह परम गति है) इत्यादि निर्देश है। 'एष

रत्नप्रभा

लिङ्गोक्तिमाशङ्क्य निषेधति—वदतीति। अत्र हि तादृशमेव निर्दिष्टमिति अन्वयः। स्पष्टम् अन्यत्॥ ५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व कथित 'ज्ञेयत्वावचनात्' लिङ्ग असिद्ध है, ऐसी आशङ्का करके उसका निराकरण करते हैं—"वदति" इत्यादिसे। 'अत्र······निर्दिष्टम्' (यहां उस प्रकारका प्रधान ही निर्दिष्ट है) ऐसा अन्वय है। शेष भाष्य सरल है॥ ५॥

भाष्य

इत्यादिनिर्देशात्। 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञानत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षणात्। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात्, मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च। नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यत इति साङ्ख्यैरिष्यते। चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात् प्रमुच्यते इति तेषामभ्युपगमः। सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवाऽऽत्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभिलप्यते। तस्मान्न प्रधानस्याऽत्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

सर्वेषु०' (सब भूतोंमें गूढ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता) इस प्रकार दुर्ज्ञेय कहा गया है, इससे वही ज्ञेय है, ऐसी आकांक्षा है। 'यच्छेद्वाङ्मनसी०' (प्राज्ञ वाणीका मनमें लय करे) इस प्रकार उसको जाननेके लिये ही वाणी आदिके संयमका विधान किया है और मृत्युके मुखसे छुटकारा पाना उसका फल है। केवल प्रधानकी अवगतिसे मृत्युके मुखसे छुटकारा पाना सांख्य नहीं मानते हैं, किन्तु चेतन आत्माके विज्ञानसे मृत्युके मुखसे मुक्त होता है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। सब वेदान्तोंमें प्राज्ञ आत्माके ही अशब्दत्व आदि धर्मोंका निर्देश है। इसलिए यहां प्रधान न ज्ञेय है और न अव्यक्तशब्दसे निर्दिष्ट ही है ॥ ५ ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

पदच्छेद—त्रयाणाम्, एव, च, एवम् , उपन्यासः, प्रश्नः, च।

पदार्थोक्ति—एवम्—पूर्वोत्तरवाक्यपर्यालोचनया, त्रयाणामेव—अग्निजीवपरमात्मनामेव, उपन्यासः—वक्तव्यत्वेनोपन्यासः, प्रश्नश्च—अग्निजीवपरमात्मविषयक एव प्रश्नोऽपि [दृश्यते, अतः न अव्यक्तं प्रधानम्]।

भावार्थ—पूर्व और उत्तर वाक्योंके पर्यालोचनसे यही प्रतीत होता है कि अग्नि, जीव और परमात्माका ही वक्तव्यरूपसे निर्देश है और प्रश्न भी उन्हीं तीनके विषयमें है, इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिमें प्रधान अव्यक्तशब्दवाच्य नहीं है।

भाष्य

इतश्च न प्रधानस्याऽव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा । यस्मात् त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन् ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद् वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते, तद्विषय एव च प्रश्नः, नाऽतोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वाऽस्ति । तत्र तावत्—

'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।'
(का० १।१।१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः ।

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥'

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी प्रधान अव्यक्तशब्दवाच्य अथवा ज्ञेय नहीं है, क्योंकि वरप्रदान सामर्थ्यसे कठवल्लीमें वक्तव्यरूपसे अग्नि, जीव, परमात्मा, इन तीन पदार्थोंका ही उपन्यास दिखाई देता है और उन्हींके विषयमें प्रश्न है, इससे अन्यका उपन्यास या प्रश्न नहीं है । उनमें 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि०' (हे मृत्यो ! तुम स्वर्गके साधनभूत अग्निको जानते हो, अतः श्रद्धालु जो मैं हूँ, मुझको उसका उपदेश दो) यह अग्निके बारेमें प्रश्न है । 'येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये०' (मृतक मनुष्यके बारेमें जो यह संशय होता है, कुछ लोग कहते हैं कि 'है' और कितने ही कहते हैं कि 'नहीं है' तुमसे अनुशासनको प्राप्त हुआ मैं इस विद्याको जानना चाहता हूँ, वरोंमें यह तीसरा वर है) यह

रत्नप्रभा

किञ्चाऽत्र कठवल्ल्यां प्रधानस्य प्रश्नोत्तरयोः असत्त्वात् न ग्रहणमित्याह—**त्रयाणामिति** । मृत्युना नचिकेतसं प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व इत्युक्तेः त्रयाणामेव प्रश्नो नचिकेतसा कृतः, उपन्यासश्च मृत्युना कृतः नाऽन्यस्य इत्यर्थः । प्रश्नत्रयं क्रमेण पठति—**तत्र तावदिति** । हे मृत्यो ! स मह्यं दत्तवरः त्वं स्वर्गहेतुम् अग्निं स्मरसि, प्रेते मृते देहाद् अन्योऽस्ति न वेति संशयोऽस्ति, अतः एतद् आत्मतत्त्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

दूसरी बात यह भी है कि कठवल्लीमें न प्रधानका प्रश्न है और न उत्तर है, इससे भी प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"त्रयाणाम्" इत्यादिसे । मृत्युने नचिकेतासे कहा कि तीन वर मांगो, इसलिए नचिकेताने तीन ही के विषयमें प्रश्न किया और मृत्युने भी तीन ही प्रश्नोंका उत्तर दिया, अन्यका नहीं, ऐसा अर्थ है । तीनों प्रश्नोंको क्रमसे कहते हैं—"तत्र तावद्" इत्यादिसे । मुझे वरदान देनेवाले हे मृत्यो ! स्वर्गहेतु अग्निको तुम जानते हो, मरणा-

भाष्य

(का० १।१।२०) इति जीवविषयः प्रश्नः ।

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥'

(का० १।२।१४) इति परमात्मविषयः । प्रतिवचनमपि—

'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।'

(का० १।१।१५) इत्यग्निविषयम् ।

'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।

भाष्यका अनुवाद

जीवके बारेमें प्रश्न है । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा०' (धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य और कारणसे अन्य, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानसे अन्य जिसको आप देखते हैं उसे कहिए) यह परमात्माके बारेमें प्रश्न है । प्रतिवचन भी 'लोकादिमग्निं तमुवाच०' (मृत्युने लोककी कारणभूत उस अग्निका नचिकेताको उपदेश दिया और यह भी कहा कि चयनके लिए किस प्रकारकी एवं कितनी ईटें चाहिएँ और अग्निका चयन किस प्रकार करना चाहिए) यह अग्निके बारेमें प्रश्न है । 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि०' (मैं तुमसे गुह्य, सनातन ब्रह्म फिरसे कहूँगा, जिसके ज्ञानसे सब संसारका उपरम हो जाता है और जिसके अज्ञानसे मरणानन्तर आत्मा जिस तरह संसारमें आता है,

रत्नप्रभा

सन्दिग्धं जानीयामित्यर्थः । क्रमेण उत्तरत्रयमाह—**प्रतिवचनमपीति** । लोकहेतु-विराडात्मना उपास्यत्वात् लोकादिः चित्योऽग्निः तं मृत्युरुवाच नचिकेतसे, याः स्वरूपतः यावतीः संख्यातः यथा वा क्रमेण अग्निः चीयते तत्सर्वमुवाच इत्यर्थः । हन्त इदानीं ब्रह्म वक्ष्यामि इति ब्रह्मवाक्येन जीवप्रश्नाद् व्यवहितमपि "यथा च मरणं प्राप्य" इत्यादिवाक्यं जीवविषयम् उत्तरयोग्यत्वादित्यर्थः । वाक्यार्थस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

नन्तर देहसे भिन्न आत्मा रहता है या नहीं, ऐसा संशय है, इसलिए मैं इस सन्दिग्ध आत्मतत्त्वको जानना चाहता हूँ, यह अर्थ है । अनुक्रमसे तीनोंके उत्तर कहते हैं—"प्रति-वचनमपि" इत्यादिसे । लोकादि-लोकके कारणभूत विराड्रूपसे उपास्य होनेके कारण अग्नि लोकहेतु कही गई है । उस चित्य अग्निको मृत्युने नचिकेतासे कहा जैसी और जितनी [ईटोंकी अपेक्षा होती है] और जिस क्रमसे अग्निका चयन होता है, वह सब कहा, ऐसा अर्थ है । 'हन्तेदानीं ब्रह्म वक्ष्यामि' इस ब्रह्मवाक्यसे व्यवहित होनेपर भी 'यथा च मरणं०' इत्यादि

भाष्य

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥' (का० २।५।६,७) इति व्यवहितं जीवविषयम्। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० १।२।१८) इत्यादि बहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम्। नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति, अपृष्टत्वादनुपन्यसनीयत्वं तस्येति।

अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति' इति, किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किं वा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति। किं चाऽतः? स एवायं प्रश्नः

भाष्यका अनुवाद

हे गौतम उसे सुनो, कर्म और विज्ञानके अनुसार कुछ देही शरीरग्रहण करनेके लिए योनिको प्राप्त होते हैं और कुछ स्थावर हो जाते हैं) इस प्रकार व्यवधानसे जीवके बारेमें प्रतिवचन है। 'न जायते म्रियते०' (विद्वान् न जन्म लेता है और न मरता ही है) इत्यादि विस्तारसे परमात्माके बारेमें प्रतिवचन है। इस प्रकार प्रधानके बारेमें प्रश्न नहीं है और प्रश्नाभावसे प्रधानका उपन्यास भी नहीं हो सकता।

यहां पूर्वपक्षी कहता है—'येयं प्रेते विचिकित्सा०' यह जो आत्माके बारेमें प्रश्न है, उसीकी अनुवृत्ति फिरसे 'अन्यत्र धर्मा०' इत्यादिमें है, या उससे

रत्नप्रभा

आत्मा मरणं प्राप्य यथा भवति तथा वक्ष्यामि इति। प्रतिज्ञातं [जीवप्रश्नस्य उत्तरम्] आह—**योनिमिति**। चराचरदेहप्राप्तौ निमित्तमाह—**यथेति**। श्रुतम् उपासनम्। सूत्रे आद्यः चकारो यत इत्यर्थे। एवं च त्रयाणाम् एव उपन्यासः प्रश्नश्च यतः, अतो न प्रधानम् अव्यक्तम्, इति सूत्रयोजना।

उक्तार्थं सूत्रमाक्षिपति—**अत्राहेति**। एकः प्रश्नः द्वौ प्रश्नौ वेति पक्षद्वये

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्य जीवप्रश्नविषयक है, क्योंकि यही जीवप्रश्नका योग्य उत्तर है। मरनेके बाद आत्माका क्या होता है, वह कहूँगा, ऐसा वाक्यार्थ है। प्रतिज्ञात विषयको कहते हैं—"योनिम्" इत्यादिसे। चर और अचर देहप्राप्तिका निमित्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। श्रुतम्—उपासना। सूत्रमें प्रथम चकार हेत्वर्थक है। चूँकि तीन ही वस्तुओंके उपन्यास और प्रश्न हैं, इससे अव्यक्त प्रधानवाचक नहीं है, ऐसी योजना करनी चाहिए।

यहाँ पूर्वपक्षीकी शंका कहते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। एक प्रश्न है या दो प्रश्न हैं इस

भाष्य

पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, तदा द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति । अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्येत, ततो यथैव वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेणाऽपि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति ।

अत्रोच्यते । नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित् कल्पयामः, वाक्योपक्रमसामर्थ्यात् । वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा

भाष्यका अनुवाद

दूसरा ही यह अपूर्व प्रश्न उठाया जाता है ? इससे प्रकृतमें क्या आया ? यदि उसी प्रश्नकी अनुवृत्ति होती है, ऐसा कहो, तो आत्माओंके बारेमें किये गये दोनों प्रश्नोंमें भेद होनेसे एक अग्निके विषयमें और दूसरा आत्माके विषयमें, इस प्रकार दो ही प्रश्न होते हैं, अतः तीन पदार्थोंके विषयमें प्रश्न और उत्तर है, ऐसा कहना युक्त नहीं है । यह दूसरा ही अपूर्व प्रश्न उठाया गया है, ऐसा यदि कहो तो, जैसे वरदानसे अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पना करनेमें दोष नहीं है, वैसे ही प्रश्न न होनेपर भी प्रधानके उपन्यासकी कल्पना करनेमें कोई दोष नहीं है ।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—यहां हम इस प्रकार वरदानसे अतिरिक्त किसी भी प्रश्नकी कल्पना नहीं करते, क्योंकि वाक्यका उपक्रम ऐसा ही है । निश्चय वरदानसे लेकर कठवल्लीकी समाप्ति तक मृत्यु और नचिकेताकी संवाद-

रत्नप्रभा

फलितं पृच्छति—**किञ्चाऽत इति** । सप्तम्यर्थे तसिः । अत्र च पक्षद्वयेऽपि किम् इत्यर्थः । प्रश्नैक्ये सूत्रासङ्गतिः, भेदे प्रधानस्य श्रौतत्वसिद्धिः इति पूर्ववादी आह—**स एवेत्यादिना** ।

प्रश्नैक्यपक्षमादाय सिद्धान्ती आह—**अत्रोच्यत इति** । येन प्रधानसिद्धिः स्यादिति शेषः । चतुर्थप्रश्नकल्पने वरत्रित्वोपक्रमविरोधः स्यादिति विवृणोति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आक्षेपका फलित पूछते हैं—"किञ्चातः" से । 'तसिः' सप्तमीके अर्थमें है । दोनों पक्षोंमें क्या दोष है ? ऐसा अर्थ है । यदि एक प्रश्न हो, तो सूत्र असंगत होता है और यदि दो प्रश्न हों, तो प्रधान श्रौत है, ऐसा सिद्ध होता है, ऐसा पूर्वपक्षी कहता है—"स एव" इत्यादिसे ।

एक ही प्रश्न है, इस पक्षको लेकर सिद्धान्ती पूर्वपक्षका परिहार करते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे । 'कल्पयामि' के बाद 'येन प्रधानसिद्धिः स्यात्' (जिससे प्रधानकी सिद्धि हो) इतना

भाष्य

वाक्यप्रवृत्तिरा समाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते । मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन् वरान् प्रददौ, नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाऽग्निविद्याम्, तृतीयेनाऽऽत्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १।१।२०) इति लिङ्गात् । तत्र 'यद्यन्यत्र धर्माद्' इत्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत, ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणाऽपि प्रश्नकल्पनाद् वाक्यं बाध्येत । ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं

भाष्यका अनुवाद

रूप वाक्यप्रवृत्ति देखी जाती है । श्रुति है कि पिताके भेजे हुए नचिकेताको मृत्युने तीन वर दिये । उनमेंसे पहले वरसे नचिकेताने पिताकी प्रसन्नता मांगी, दूसरेसे अग्निविद्या और तीसरेसे आत्मविद्या, क्योंकि 'येयं प्रेते' और 'वराणमेष०' ये लिङ्ग हैं । उनमें 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादिसे यह दूसरा अपूर्व प्रश्न उठाया जाय, तो वरदानसे अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पनासे वाक्यका बाध हो जायगा । परन्तु प्रष्टव्य पदार्थका भेद होनेसे यह प्रश्न अपूर्व है ।

रत्नप्रभा

वरेत्यादिना । वरप्रदानम् उपक्रमे यस्याः सा । प्रहिताय यमलोकं प्रति प्रेषिताय, इतः पुनः मर्त्यलोकं प्राप्तस्य मम पिता यथापूर्वं सुमनाः स्यादिति प्रथमं वव्रे । ननु द्वितीयवरो जीवविद्या, तृतीयो ब्रह्मविद्या इति प्रश्नभेदः किं न स्यादित्यत आह— **येयमिति** । "प्रेते" [कठ० १।२०] इति उपक्रम्य तृतीयत्वोक्तिलिङ्गाद् जीवात्मविद्यैव तृतीयो वर इत्यर्थः । एवं वाक्योपक्रमे सति प्रश्नान्तरं न युक्तमित्याह— **तत्रेति** । मरणधर्माद्यस्पर्शलिङ्गाभ्यां प्रष्टव्ययोः जीवेश्वरयोः भेदात् प्रश्नभेदसिद्धेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

शेष समझना चाहिए । चतुर्थ प्रश्नकी कल्पना करनेसे तीन वरदानोंके उपक्रमका विरोध होगा, ऐसा विवरण करते हैं—"वर" इत्यादिसे । जिस वाक्यप्रवृत्तिके आरम्भमें वरदानका कथन है, वह 'वरदानोपक्रमा' कहलाती है । 'प्रहिताय'—यमलोकमें भेजा हुआ । यहाँसे जब मैं मर्त्यलोकमें जाऊँ, तब पूर्वके समान मेरे पिता मेरे ऊपर प्रसन्न रहें, यह प्रथम वर माँगा । परन्तु दूसरा वर जीवविद्या विषयक है और तीसरा वर ब्रह्मविद्याविषयक है, ऐसा प्रश्नभेद क्यों न हो, इसपर कहते हैं—"येयम्" इत्यादिसे । 'प्रेते' ऐसा उपक्रम करके 'तृतीयः' ऐसा कहा है, इससे प्रतीत होता है कि तीसरा वर जीवात्मविद्याविषयक ही है । इस प्रकार वाक्यका उपक्रम होनेसे प्रश्नान्तर युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । मरण और धर्माद्यस्पर्श इन दो लिंगोंसे प्रश्नविषय जीव और ईश्वरमें भेद होनेसे प्रश्नभेद सिद्ध होता है,

भाष्य

प्रश्नो भवितुमर्हति, पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः, येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति नास्ति इति विचिकित्साभिधानात्। जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नाऽन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते, पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वाच्च। तस्मात् प्रत्यभिज्ञानाभावात् प्रश्नभेदः, न पूर्वस्यैवोत्तरत्राऽनुकर्षणमिति चेत्, न; जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात्। भवेत् प्रष्टव्यभेदात् प्रश्नभेदो यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात् स्यात्, न त्वन्यत्वमस्ति 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः। इह चाऽन्यत्र

भाष्यका अनुवाद

पूर्व प्रश्न जीवके विषयमें है, क्योंकि 'मृत मनुष्यके विषयमें 'है या नहीं' ऐसी जो शंका होती है' इस प्रकार संशय किया गया है। जीव धर्म आदिका आश्रय होनेसे 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्नके योग्य नहीं है। प्राज्ञ तो धर्म आदिसे अतिक्रान्त होनेसे 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्नके योग्य है। और प्रश्नसादृश्य भी नहीं दीखता, क्योंकि पूर्व प्रश्नका विषय है—'है या नहीं' और उत्तर प्रश्नका विषय है—'धर्म आदिसे अतिक्रान्त वस्तु'। इसलिए प्रत्यभिज्ञाके अभावसे प्रश्नोंमें परस्पर भेद है और पूर्व प्रश्नकी उत्तर वाक्यमें अनुवृत्ति नहीं है, ऐसा कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और प्राज्ञ एक हैं, ऐसा स्वीकार किया है। यदि प्राज्ञसे जीव भिन्न हो, तो प्रष्टव्यके भेदसे प्रश्नभेद हो जायगा, परन्तु भेद नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि'

रत्नप्रभा

वाक्यबाधो युक्त इति शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। गोचरत्वाद्–आश्रयत्वात्। न केवलं प्रष्टव्यभेदात् प्रश्नभेदः, किन्तु प्रश्नवाक्ययोः सादृश्याभावादपि इत्याह—**प्रश्नच्छायेति**। प्रष्टव्यभेदोऽसिद्ध इति परिहरति—**नेत्यादिना**। किञ्च, ब्रह्मप्रश्ने जन्मादिनिषेधेन जीवस्वरूपं वदन् यमः तयोः ऐक्यं सूचयति इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतः वाक्यबाध युक्त है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'गोचर'—आश्रय। केवल प्रष्टव्यभेदसे ही प्रश्नभेद नहीं है, किन्तु प्रश्नवाक्योंमें सादृश्य न होनेसे भी भेद है, ऐसा कहते हैं—"प्रश्नच्छाया" इत्यादिसे। प्रष्टव्यभेद असिद्ध है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। और ब्रह्मप्रश्नके उत्तरमें जन्म आदिके निषेधसे जीवका स्वरूप कहकर यम जीव और परमात्माका ऐक्य सूचित करता है, ऐसा कहते हैं—"इह चान्यत्र" इत्यादिसे।

भाष्य

धर्मादित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनम् 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति। सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति। प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति न परमेश्वरस्य। तथा—

'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥' (का० २।४।४)

इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति। प्राज्ञविज्ञानाद्धि

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि दूसरी श्रुतियां हैं। यहां भी 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि प्रश्नका 'न जायते म्रियते०' इस प्रकार जन्म-मरणके प्रतिषेधसे वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला प्रतिवचन जीव और परमेश्वरका अभेद दिखलाता है। प्राप्ति होनेपर ही प्रतिषेध संगत होता है। और शरीरके संसर्गसे शारीरको जन्म-मरणकी प्राप्ति होती है, परमेश्वरको नहीं होती। उसी प्रकार 'स्वप्रान्तं जागरितान्तं चोभौ०' (जिससे स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओंको देखता है, उस महान् विभु आत्माका चिन्तन करके धीर पुरुष शोक नहीं करता) इस प्रकार स्वप्न और जागरित अवस्थाओंको देखनेवाले महत्त्व और विभुत्वविशिष्ट जीवके चिन्तनसे ही शोकका विच्छेद दिखलाता हुआ यम प्राज्ञसे जीवका अभेद

रत्नप्रभा

इह **चाऽन्यत्रेति**। तन्निषेधवाक्ये जीवोक्तिः असिद्धा इत्यत आह—**सतीति**। भागी—युक्तः। तस्मात् अविद्यया जीवस्य प्राप्तजन्मादिनिषेधेन स्वरूपम् उक्तम् इत्यर्थः। किञ्च, जीवो ब्रह्माभिन्नः, मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वाद्, ब्रह्मवत्, इत्याह— **तथा स्वप्नेति**। अन्तः-अवस्था। येन साक्षिणा प्रमाता पश्यति तमात्मानम् इति सम्बन्धः। हेतोः अप्रयोजकत्वमाशङ्क्य 'तमेव विदित्वा' इत्यादिश्रुतिविरोधमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

जन्म आदिका निषेध करनेवाले वाक्यमें जीवका कथन सिद्ध नहीं हो सकता, इसपर कहते हैं—"सति" इत्यादि। भागी—युक्त। इसलिए अविद्यासे जीवको प्राप्त हुए जन्म आदिके निषेधसे उसका स्वरूप कहा गया है, ऐसा अर्थ है। और जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, मोक्षके हेतु ज्ञानका विषय होनेसे, ब्रह्मके समान, ऐसा कहते हैं—"तथा स्वप्न" इत्यादिसे। 'अन्तः'—अवस्था। जिस साक्षीसे प्रमाता देखता है, उस साक्षीको आत्मा समझकर, ऐसा संबन्ध है। हेतु

भाष्य

शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः । तथाग्रे—

'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥' (का० २।४।१०)

इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति । तथा जीवविषयस्याऽस्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्याऽनन्तरम् 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैनं मृत्युरभ्युदयनिः-

भाष्यका अनुवाद

दिखलाता है । प्राज्ञके विज्ञानसे ही शोकका विच्छेद होता है, ऐसा वेदान्तका सिद्धान्त है । उसी प्रकार आगे 'यदेवेह तदमुत्र०' (जो यहां—देहमें है, वह वहां आदित्य आदिमें है, जो वहां है वह यहां है, जो इसमें मिथ्या भेद देखता है, वह जन्ममरण-परम्पराको प्राप्त होता है) इस प्रकार श्रुति जीव और प्राज्ञ में भेददृष्टिका निषेध करती है । इसी प्रकार जीवविषयक 'अस्तित्वनास्तित्व' (है या नहीं) प्रश्नके अनन्तर 'अन्यं वरं०' हे नचिकेता ! तुम अन्य वर मांगो) ऐसा आरम्भ करके मृत्यु द्वारा अनेक कामनाओंसे अत्यन्त प्रलोभित होता हुआ भी नचिकेता जब विचलित नहीं हुआ, तब मृत्युने अभ्युदय और

रत्नप्रभा

प्राज्ञेति । किञ्च, अभेदम् उक्त्वा भेदस्य निन्दितत्वात् अभेद एव सत्य इत्याह—तथेति । इह देहे यत् चैतन्यं तदेव अमुत्र सूर्यादौ, एवम् इह अखण्डैकरसे ब्रह्मणि यो नानेव मिथ्याभेदं पश्यति, सः—भेददर्शी मरणात् मरणं प्राप्नोति संसारभयात् न मुच्यते इत्यर्थः । किञ्च, जीवप्रश्नानन्तरम् "तं दुर्दर्शम्" इति यदुत्तरमुवाच तेनापि उत्तरेणाऽभेदो गम्यते इति सम्बन्धः । प्रष्टृप्रश्नयोः प्रशंसयाऽपि लिङ्गेन पृष्टस्य जीवस्य दौर्लभ्यत्वद्योतनाद् ब्रह्मत्वसिद्धिरित्याह—अन्यं वरमित्यादिना । 'पुत्रा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अप्रयोजक है, ऐसी आशंका करके 'तमेव०' इत्यादि श्रुतिका विरोध दिखलाते हैं—"प्राज्ञ" इत्यादिसे । और अभेद कहकर भेदकी निन्दा की है, इसलिए अभेद ही सत्य है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । जो चैतन्य यहाँ इस देहमें है, वही अमुत्र सूर्यादिमें है, इस प्रकार अखण्ड एकरस ब्रह्ममें जो मिथ्याभेद देखता है, वह भेददर्शी मृत्युसे मृत्यु अर्थात् पुनः पुनः जन्ममरणप्रवाहपरम्पराको प्राप्त होता है, संसारभयसे मुक्त नहीं होता, ऐसा अर्थ है । इसमें जीवप्रश्नके अतिरिक्त अनन्तर 'तं दुर्दर्शं०' ऐसा जो उत्तर दिया है, इस उत्तरसे भी अभेद गम्य होता है, ऐसा संबन्ध है । और प्रश्नकर्ता और प्रश्नकी प्रशंसारूप लिंगसे पृष्ट वस्तु जीव दुर्लभ है, ऐसा प्रतीत होनेसे भी ब्रह्मत्व सिद्ध होता है, ऐसा कहते

भाष्य

श्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त' (का० १।२।४) इति प्रश्नस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन् यदुवाच—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥'

भाष्यका अनुवाद

मोक्षका विभाग दिखला कर और विस्तारपूर्वक विद्या और अविद्याका भी विभाग दिखला कर 'विद्याभीप्सिनं०' (हे नचिकेता ! मुझे दृढ़ विश्वास है कि तुम परमार्थतः विद्याप्राप्तिके इच्छुक हो, तुमको अनेक कामनाएँ भी नहीं लुभा सकीं) इस प्रकार प्रशंसा करके उसके प्रश्नकी भी प्रशंसा करते हुए 'तं दुर्दर्शं गूढमनु०' (दुर्विज्ञेय, गूढ—मायामें प्रविष्ट, गुहा—बुद्धिमें स्थित, गह्वर–अनेक अनर्थोंसे व्याप्त देहमें स्थित, चिरन्तन आत्माका, अध्यात्मयोगप्राप्तिद्वारा मनन करके धीर

रत्नप्रभा

दिकं वृणीष्व, इत्युक्तेऽपि विषयान् तुच्छीकृत्य आत्मज्ञानात् न चचाल "नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते" [क० ।१।२०] इति श्रवणात् । तदा सन्तुष्टो यमः "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः" [क० २।१] इति भोगापवर्गमार्गयोः वैलक्षण्यं प्रतिज्ञाय "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या" [क० २।४] इति दर्शितवानित्यर्थः । प्रेयः–प्रियतमं स्वर्गादिकम्, विषूची—विरुद्धफले, अविद्या–कर्म, विद्या —तत्त्वधीः । विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं त्वामहं मन्ये, यतः त्वा—त्वां बहवोऽपि कामाः पुत्रादयो मया दीयमाना दुर्लभा अपि न अलोलुपन्त लोभवन्तं न कृतवन्त इति प्रष्टारं स्तुत्वा प्रश्नमपि "त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा" [क० २।९] इति स्तुवन्

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अन्यं वरम्" इत्यादिसे । 'पुत्रादिकं०' (पुत्र आदि मांगो) ऐसा कहने पर विषयोंको तुच्छ मानकर आत्मज्ञानसे नचिकेता विचलित नहीं हुआ, क्योंकि 'नान्यं तस्मा०' (यमसे नचिकेताने दूसरा कोई वर नहीं माँगा) ऐसी श्रुति है । उसके बाद यमने संतुष्ट होकर 'अन्यच्छ्रेयो०' (श्रेयमार्ग अन्य है और प्रेयमार्ग अन्य है) इस प्रकार भोगमार्ग और अपवर्गमार्ग विलक्षण है, ऐसी प्रतिज्ञा कर 'दूरमेते विपरीते०' (अविद्या और विद्या इन दोनोंमें बहुत अन्तर है, ये दोनों विपरीत है अर्थात् भिन्नफलदायक हैं) ऐसा समझाया है 'प्रेयः'—प्रियतम स्वर्ग आदि, 'विषूची'—विरुद्धफलवाले, 'अविद्या'—कर्म, विद्या'—तत्त्वज्ञान' 'विद्याभीप्सिनं'—मैं तुमको वस्तुतः विद्याको चाहनेवाला समझता हूँ, क्योंकि मुझसे दिये जाते हुए दुर्लभ पुत्र आदि बहुतसे पदार्थोंने तुमको नहीं लुभाया, इस प्रकार प्रश्न

भाष्य

(का० १।२।१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते। यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेता यदि तं विहाय प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्, तस्मात् 'येयं प्रेते' इत्यस्यैव प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति। यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं तददूषणम्, तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात्। पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वं पृष्टमुत्तरत्र तु तस्यैवाऽसंसारित्वं पृच्छ्यत इति। यावद्ध्य-

भाष्यका अनुवाद

पुरुष हर्ष और शोकका त्याग करता है) ऐसा जो कहा है, इससे भी प्रतीत होता है कि जीव और प्राज्ञका अभेद ही यहां विवक्षित है। जिस प्रश्नके कारण मृत्युने नचिकेताकी महती प्रशंसा की, उस प्रश्नको छोड़कर प्रशंसाके अनन्तर अन्य ही प्रश्नका उपक्षेप करे तो सब प्रशंसा कुजगहमें की जानेके कारण व्यर्थ ही हो जायगी, इसलिये 'येयं प्रेते०' इसी प्रश्नकी 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादिमें यह अनुवृत्ति है। दोनों प्रश्नोंमें सादृश्य न होनेके कारण प्रश्न विलक्षण हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि उसीका विशेष फिरसे पूछा गया है। पूर्व वाक्यमें देह आदिसे अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व पूछा गया है और उत्तर वाक्यमें उसीका असंसारित्व पूछा गया है। इसलिए

रत्नप्रभा

इत्यक्षरार्थः। इयं प्रशंसा प्रश्नभेदपक्षे न घटते इत्याह—यत्प्रश्नेति। यत्प्रश्नेन स्तुतिं लब्धवान् तं प्रश्नं विहाय यदि अन्यदेव उत्थापयेत् तर्हि अनवसरे स्तुतिः कृता स्यादित्यर्थः। तस्मादिति। प्रष्टव्यभेदाभावादित्यर्थः। प्रश्नवाक्यव्यक्त्योः सादृश्याभावात् प्रश्नभेद इत्युक्तं निरस्यति—यत्त्वित्यादिना। धर्माद्याश्रयस्य जीवस्य ब्रह्मत्वं कथम्, इत्यत आह—यावदिति। अविद्यानाशानन्तरं ब्रह्मत्वं चेत् आग-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूछनेवाले नचिकेताकी प्रशंसा करके 'त्वादृङ् नो भूया०' (तुम्हारे सदृश पूछनेवाला हमें कोई शिष्य मिले,) ऐसी उसके प्रश्नकी भी प्रशंसा करते हुए यमने कहा, ऐसा अक्षरार्थ है। प्रश्नभेदपक्षमें यह प्रशंसा संगत न होगी, ऐसा कहते हैं—"यत्प्रश्न" इत्यादिसे। जिस प्रश्नसे प्रशंसा पाई उस प्रश्नको छोड़कर यदि दूसरा ही प्रश्न उठावे, तो वह स्तुति बेमौकेकी ही होगी, ऐसा अर्थ है। "तस्माद्"—प्रष्टव्यका भेद होनेसे। प्रश्नवाक्यव्यक्तियोंमें सादृश्य न होनेसे प्रश्नभेद है, ऐसा जो कहा है, उसका निराकरण करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। धर्म आदिका आश्रय जीव ब्रह्म किस प्रकार है, इसपर कहते हैं—"यावद्" इत्यादि। परन्तु

भाष्य

विद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते। तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव 'तत्त्वमसि' इति श्रुत्या प्रत्याय्यते। न चाऽविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यथा कश्चित्सं-तमसे पतितां कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानस्ततो भीतो वेपमानः पलायते, तं चाऽपरो ब्रूयाद् मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति। स च तदुपश्रुत्याऽहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च, न त्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्, तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्। ततश्च 'न जायते म्रियते वा'

भाष्यका अनुवाद

जब तक अविद्या निवृत नहीं होती तब तक जीवमें धर्माद्याश्रयत्व और जीवत्व निवृत्त नहीं होते। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर वह तो प्राज्ञ ही है, ऐसी 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिसे प्रतीति करायी जाती है। और अविद्याके योगसे और अविद्याके नाशसे वस्तुमें कुछ भी विशेषता नहीं होती। जैसे गाढ़ अन्धकारमें पड़ी हुई किसी रज्जुको सर्प समझकर मनुष्य भयसे कांपता हुआ भागता है, उससे यदि कोई कहे कि मत डरो यह सर्प नहीं है, किन्तु रज्जु है और वह उसे सुनकर सर्पज्ञानजन्य भयसे मुक्त हो जाता है और कांपना तथा भागना छोड़ देता है। परन्तु जब वह उसमें सर्पबुद्धि रखता है और जब वह बुद्धि जाती रहती है, दोनों अवस्थाओंमें वस्तुमें कुछ विशेषता नहीं आती, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। इसलिए

रत्नप्रभा

न्तुकम् अनित्यं च स्यादित्यत आह—**न चाऽविद्यावत्त्व इति**। जीवस्य ब्रह्मत्वे स्वाभाविके सति ब्रह्मप्रश्नस्य यदुत्तरं तद् जीवप्रश्नस्याऽपि भवतीति लाभं दर्शयति— **"ततश्च न जायते"** इति। जीवब्रह्मैक्ये त्रयाणामिति सूत्रं कथम्? इत्यत आह— **सूत्रं त्विति**। कल्पितभेदात् प्रश्नभेदकल्पना इत्याह—**ततश्चेति**। परमात्मनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्याके नाश होनेपर यदि जीव ब्रह्मत्व प्राप्त करे, तो वह ब्रह्मत्व आगन्तुक और अनित्य हो जायगा, इसपर कहते हैं—"न चाविद्यावत्त्वे" इत्यादि। जीवका ब्रह्मत्व स्वाभाविक है, इसलिए ब्रह्मप्रश्नका जो उत्तर है, वह जीव प्रश्नका भी है, ऐसा लाभ दिखलाते हैं—"ततश्च न जायते" इत्यादिसे। जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं, तो सूत्रमें 'त्रयाणाम्' क्यों कहा है, इसपर कहते हैं—"सूत्रं तु" इत्यादि। कल्पितभेदसे प्रश्नभेदकी कल्पना करनी चाहिए,

भाष्य

इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम् । सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम् । एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात् कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते, उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसंकीर्तनात् प्राज्ञविषयत्वमिति। ततश्च युक्ताऽग्निजीवपरमात्मकल्पना । प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

'न जायते०' इत्यादि भी अस्तित्व नास्तित्वका प्रतिवचन है । अविद्यासे कल्पित जीव और प्राज्ञके भेदकी अपेक्षासे सूत्रकी योजना करनी चाहिए । यद्यपि आत्मविषयक प्रश्न एक ही है, तो भी मरणावस्थामें देहसे व्यतिरिक्तके अस्तित्वमात्रका संशय होता है और कर्तृत्व आदि सांसारिकताका निषेध नहीं होता, इसलिए पूर्व पर्याय जीवविषयक माना जाता है । उत्तर पर्यायमें तो धर्म आदिके राहित्यका प्रतिपादन है, इससे वह प्राज्ञविषयक है । इसलिए अग्नि, जीव और परमात्माकी कल्पना युक्त है । प्रधानकी कल्पनामें तो न वरदान है, न प्रश्न है और न प्रतिवचन है, इस प्रकार वैषम्य है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

सकाशात् प्रधानस्य वैषम्यम् अनात्मत्वेन तृतीयवरान्तर्भावायोगादिति भावः ॥६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे । परमात्मासे प्रधान विषम है, क्योंकि अनात्मा होनेसे तीसरे वरदानमें इसका अन्तर्भाव नहीं होता, ऐसा तात्पर्य है ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥७॥

पदच्छेद—महद्वत्, च ।

पदार्थोक्ति—महद्वच्च—यथा 'बुद्धेरात्मा महान् परः' इत्यत्र महच्छब्दो न साङ्ख्याभिमतद्वितीयतत्त्ववाची एवमेव वैदिकाव्यक्तशब्दोऽपि न प्रधानवाचकः ।

भाषार्थ—'बुद्धेरात्मा०' (बुद्धिसे महान् आत्मा श्रेष्ठ है) इसमें पठित महत् शब्द जैसे सांख्याभिमत दूसरे तत्त्वका वाचक नहीं है, उसी प्रकार वैदिक अव्यक्त शब्द भी प्रधानका वाचक नहीं है ।

भाष्य

यथा महच्छब्दः साङ्ख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते, 'बुद्धेरात्मा महान्परः' (का० १।३।१०), 'महान्तं विभुमात्मानम्' (का० १।२।२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।८) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः, तथाऽव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति। अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥७॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे सांख्याचार्योंसे सत्तामात्र, प्रथमोत्पन्न, महत्तत्व अर्थमें प्रयुक्त महत्शब्द 'बुद्धेरात्मा०' (बुद्धिसे महान् आत्मा श्रेष्ठ है) 'महान्तं विभुमात्मानं०' (महान् विभु आत्माको) 'वेदाहमेतं पुरुषं०' (मैं उस महान् पुरुषको जानता हूँ) इत्यादिमें आत्मशब्दप्रयोग आदि हेतुओंसे वैदिक प्रयोगमें उसी अर्थका अभिधान नहीं करता, उसी प्रकार अव्यक्तशब्द भी वैदिक प्रयोगमें प्रधानका अभिधान नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि अनुमानसिद्ध प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

श्रौतः अव्यक्तशब्दो न सांख्यासाधारणतत्त्वगोचरः, वैदिकशब्दत्वात्, महच्छब्दवदित्याह—**महद्वच्चेति**। सूत्रं व्याचष्टे—**यथेत्यादिना**। न च आकाशादिशब्दे व्यभिचारः, आकाशादेः मतान्तरसाधारणत्वेन सांख्यासाधारणत्वासिद्धेः साध्यस्यापि सत्त्वादिति मन्तव्यम्। सत्तामात्रे सत्त्वप्रधानप्रकृते आद्यपरिणामे निर्विकल्पकबुद्धौ इत्यर्थः। "आत्मा महान्" [क० ३।१०] इत्यात्मशब्दप्रयोगात्, "तं मत्वा न शोचति" (क० २।२२) "तमसः परस्ताद्" [श्वे० १ ३।८) इत्यादिना शोकात्ययतमःपरत्वादिभ्यश्च महच्छब्दः सांख्यतत्त्वं नाऽभिधत्ते इति सम्बन्धः। अधिकरणार्थम् उपसंहरति—**अतश्चेति** ॥७॥(१)

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिस्थ अव्यक्तशब्द सांख्यके असाधारण तत्त्वका प्रतिपादन नहीं करता, वैदिकशब्द होनेसे, महत्शब्दके समान, ऐसा कहते हैं—"महद्वच्च" इससे। सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। आकाश आदि शब्दोंमें उपर्युक्त अनुमानगत हेतुके व्यभिचारकी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आकाश आदि सांख्यमतके असाधारण तत्त्व नहीं हैं क्योंकि अन्य तार्किक आदि भी उन्हें मानते हैं। अतः साध्य भी है। "सत्तामात्र"। सत्त्वगुण जिसमें प्रधान है उस प्रकृतिका जो आद्य परिणाम है वह महत् है, अर्थात् निर्विकल्पक बुद्धि। "आत्मा महान्" इस प्रकार आत्मशब्दका प्रयोग है। "तं मत्वा" (उस आत्माका चिन्तन करके शोकको प्राप्त नहीं होता) एवं "तमसः" (जो वह महान् पुरुष अन्धकारसे पर है, उसको मैं जानता हूँ) इस प्रकार शोकका नाश तथा अन्धकारसे परत्व कहा गया है—इन हेतुओंसे महत्शब्द सांख्यतत्त्वका अभिधान नहीं करता, ऐसा सम्बन्ध है। अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे ॥७॥

[२ चमसाधिकरण सू० ८-१०]

अजा हि साङ्ख्यप्रकृतिस्तेजोऽबन्नात्मिकाऽथवा ।
रजआदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ साङ्ख्यशास्त्रगा ॥१॥
लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोऽबन्नादिलक्षणाम् ।
प्रकृतिं गमयेच्छ्रौतीमजाक्लृप्तिर्मधुत्ववत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस श्रुतिमें उक्त अजाशब्द सांख्याभिमत प्रकृतिका वाचक है अथवा तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिका ?

पूर्वपक्ष—लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण शब्दोंसे रज, सत्त्व एवं तमोगुण लक्षित होते हैं, अतः सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति अजा है ।

सिद्धान्त—छान्दोग्यश्रुतिमें लोहित, शुक्ल और कृष्ण क्रमशः तेज, जल और अन्नके धर्म कहे गये हैं, यहां भी उन्हींकी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः उन धर्मोंसे युक्त तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ही प्रकृत श्रुतिमें अजाशब्दसे कही गई है। उक्त प्रकृतिमें अजात्वकी कल्पना आदित्यमें मधुत्वकी कल्पनाकी तरह है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि श्वेताश्वतर उपनिषत्‌के चौथे अध्यायमें श्रुति है—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'। यहां संशय होता है कि अजाशब्दसे सांख्यशास्त्रमें कथित प्रधान विवक्षित है अथवा छान्दोग्यश्रुतिमें उक्त तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ?

पूर्वपक्षी कहता है कि अजाशब्दसे प्रधान अभिप्रेत है, क्योंकि वह अजा सत्त्व, रज एवं तमोगुणात्मक कही गई है । यद्यपि श्रुतिमें लाल, सफेद और काले वर्ण ही सुने जाते हैं, गुण नहीं सुने जाते तो भी लोहित आदि शब्दोंसे गुण लक्षित होते हैं । रागोत्पादकत्वरूप सादृश्यसे लोहितशब्दसे रजोगुण लक्षित होता है, स्वच्छत्वरूप सादृश्यसे शुक्लशब्दसे सत्त्वगुण लक्षित होता है, आवरकत्वरूप सादृश्यसे कृष्णपदसे तमोगुण लक्षित होता है। इस प्रकार सांख्याभिमत प्रधान अजाशब्दसे कहा गया है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्, यच्छुक्लं तदपाम्, यत्कृष्णं तदन्नस्य' (अग्निमें जो रक्तवर्ण है वह तेजका है, जो शुक्लवर्ण है वह जलका है और जो कृष्णवर्ण है वह अन्नका है) इस छान्दोग्य श्रुतिमें उक्त तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिके लोहित, शुक्ल और कृष्णरूपोंकी प्रत्यभिज्ञा प्रकृत श्रुतिमें होती है। स्मृतिप्रत्यभिज्ञाकी अपेक्षा श्रुतिप्रत्यभिज्ञा बलवती होती है । लोहित आदिशब्दोंके मुख्य अर्थका संभव है, इसलिए ज्ञात होता है कि तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ही अजाशब्दसे कही गई है। यद्यपि अजाशब्द बकरी का वाचक है, अतः उक्त प्रकृतिमें रूढ नहीं है और 'न जायते' (नहीं उत्पन्न होती) इस प्रकार व्युत्पत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि तेज आदि ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, तो भी उक्त प्रकृतिका अनायास बोध होनेके लिए उसमें छागत्वकी कल्पना होती है, जैसे कि 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (आदित्य देवताओंका मधु है) इत्यादि वाक्यमें मधुसे भिन्न आदित्यमें मधुत्वकी कल्पना की गई है । इससे सिद्ध हुआ कि तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ही प्रकृत श्रुतिमें अजाशब्दसे कही गई है।

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—चमसवत्, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—चमसवत्—यथा 'अर्वाग्बिलश्चमसः' इत्यादौ अयं चमस इत्यवधारणं न भवति कथंचिदर्वाग्बिलत्वादेरन्यत्राप्यविशेषात् एवम्, अविशेषात्—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इति मंत्रेऽपि अजात्वादेरविशेषान्न प्रधाननिर्णयः, [अतः प्रधानमशब्दम्] ।

भाषार्थ—जैसे 'अर्वाग्बिल०' (जिसके अधोभागमें बिल है एवं ऊर्ध्वभागमें जो गोलाकार होता है, वह चमस है) इसमें 'यही चमस है' इस प्रकार विशेषरूपसे किसी पदार्थका निर्धारण नहीं होता है, क्योंकि अर्वाग्बिलत्व आदि साधारण धर्म हैं, वे अनेकमें रह सकते हैं, इसी प्रकार 'अजामेकाम्०' इस मंत्रमें भी अजात्व आदि धर्मोंके साधारण होनेसे प्रधानका निश्चय नहीं हो सकता । इसलिये प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है ।

भाष्य

पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्याऽसिद्धमित्याह, कस्मात् ? मन्त्रवर्णात्—

भाष्यका अनुवाद

प्रधानवादी फिर भी कहता है कि प्रधानको अशब्द कहना असिद्ध है,

रत्नप्रभा

चमसवदविशेषात् । अत्राऽजापदं विषयः, तत् किं प्रधानपरं मायापरं वा इति रूढार्थासम्भवात् संशये पूर्वत्र अव्यक्तशब्दमात्रेण प्रधानस्य अप्रत्यभिज्ञायामपि अत्र त्रिगुणत्वादिलिङ्गोपेताद् अजापदात् प्रत्यभिज्ञाऽस्तीति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—**पुनरपीति** । फलं पूर्वपक्षे ब्रह्मणि समन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहांपर 'अजा' पद विषय है, रूढ अर्थका संभव न होनेसे अजापद प्रधानपरक है या मायापरक ? ऐसा संशय होनेपर पूर्व अधिकरणमें केवल अव्यक्तपदसे प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा भले न हुई हो परन्तु यहां तो त्रिगुणत्व आदि लिङ्गोंसे युक्त अजापदसे प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा होगी इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष करते हैं—"पुनरपि" इत्यादिसे । ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंके समन्वयकी असिद्धि पूर्वपक्षम फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है ऐसा पूर्वके समान

भाष्य

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥'

(श्वे० ४ । ५) इति । अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते । लोहितं रजः, रञ्जनात्मकत्वात्; शुक्लं सत्त्वम्, प्रकाशात्मकत्वात्; कृष्णं तमः, आवरणात्मकत्वात् । तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते—लोहितशुक्लकृष्णेति । न जायत इति चाऽजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात् । नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः । बाढम् ।

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'अजामेकां लोहित०' (त्रिगुणात्मक एवं समान बहुत-सी प्रजाओंको उत्पन्न करनेवाली एक अजाका सेवन करता हुआ एक अज उसके पास सोता है और दूसरा भोगनेके अनन्तर उसका परित्याग कर देता है) ऐसी श्रुति है। इस श्रुतिमें लोहित, शुक्ल और कृष्ण शब्दोंसे रज, सत्त्व और तमका अभिधान होता है। लोहित रागात्मक होनेसे रज है, शुक्ल प्रकाशात्मक होनेसे सत्त्व है और कृष्ण आवरणात्मक होनेसे तम है। लोहित, शुक्ल और कृष्ण इन अवयवधर्मोंसे उनकी साम्यावस्था कही जाती है। जिसका जन्म नहीं होता वह अजा है, क्योंकि 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (मूलप्रकृति उत्पन्न नहीं होती) ऐसा सांख्य लोग मानते हैं। अजाशब्द बकरीमें रूढ़ है, उससे प्रधानका ग्रहण कैसे होगा? अवश्य रूढ़ है,

---

रत्नप्रभा

तत्सिद्धिरिति पूर्ववद् द्रष्टव्यम् । रागहेतुत्वादिगुणयोगाद् लोहितादिशब्दै रजआदिगुणलाभेऽपि कथं प्रधानलाभः, तत्राह—तेषां साम्येति । अवयवाः प्रधानस्य रजआदयः तेषां धर्माः रञ्जकत्वादयः तैः निमित्तैः लोहितादिशब्दैः प्रधानमुच्यते इत्यर्थः । गुणाभेदात् प्रधानलाभ इति भावः । तत्र अजाशब्दं योजयति—नेति । 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायेन शङ्कते—नन्विति । रूढ्यसम्भवाद् योग

रत्नप्रभाका अनुवाद

समझना चाहिए। रजोगुण रागका हेतु है, इसलिए उसका लोहितशब्दसे ग्रहण है। इसी प्रकार दूसरे गुणोंका ग्रहण है, परन्तु उससे प्रधानका लाभ किस प्रकार होता है? इसपर कहते हैं—"तेषां साम्या" इत्यादिसे। गुणोंकी साम्यावस्था जो प्रधान है, उसके अवयव रज आदि हैं उनके धर्म रञ्जकत्व आदि हैं, इसलिए लोहित आदि शब्दोंसे प्रधानका अभिधान होता है। यहांके गुणोंसे प्रधानके अवयवोंमें भेद न होनेसे प्रधानका लाभ होता है—यह भाव है। इसमें अजाशब्दका यौगिक अर्थ कहते हैं—"न" इत्यादिसे। "रूढिर्योगमपहरति' (रूढि योगसे

भाष्य

सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या, विद्याप्रकरणात् । सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति, तां प्रकृतिमज एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वाऽनुशेते । तामेवाऽविद्ययाऽऽत्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरति, अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति मुच्यत इत्यर्थः । तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाऽनेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमा-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु उस रूढिका यहां ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि यह विद्याका प्रकरण है। यह अजा तीनगुणवाली बहुत प्रजाओंको जन्म देती है। एक अज अर्थात् पुरुष उस प्रकृतिपर प्रेम रखता हुआ या उसका सेवन करता हुआ उसके पास शयन करता है। अर्थात् अविद्यासे उसीको आत्मा समझकर 'मैं दुःखी, सुखी एवं मूढ हूं' इस प्रकार अविवेकसे संसारचक्रमें पड़ता है। परन्तु जिसमें विवेक-ज्ञान उत्पन्न हो चुका ऐसा दूसरा विरक्त अज अर्थात् पुरुष जिसने भोग और अपवर्ग प्राप्तकर लिये हैं, इस प्रकृतिका परित्याग करता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इसलिए कपिलमतानुयायियोंकी प्रधान आदिकी कल्पना श्रुतिमूलक ही है।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—इस मन्त्रसे सांख्यवाद श्रुति-

रत्नप्रभा

आश्रयणीय इत्याह—बाढमिति । अजाशब्दितप्रकृतित्वपुरुषभेदलिङ्गाभ्यामपि प्रधानप्रत्यभिज्ञा इत्याह—सा चेत्यादिना । प्रजायन्त इति प्रजाः—महदादयः । त्रैगुण्यम्—सुखदुःखमोहाः । अनुशयनं विवृणोति—तामेवाऽविद्ययेति । अविवेकेन इत्यर्थः । विषयधीः—भोगः, गुणभिन्नात्मख्यातिः—अपवर्गः । सिद्धान्तयति—एवं प्राप्ते इति । मायादौ अपि साधारणात् मन्त्राद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

बलवत्तर है, इस न्यायसे शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । रूढिका सम्भव न होनेसे योगका आश्रयण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे । अजाशब्दवाच्य प्रकृतित्व और पुरुषभेदरूप हेतुओंसे भी प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा होती है, ऐसा कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे । जो जन्म लें, वे प्रजा कहलाते हैं अर्थात् महत् आदि । तीन गुण—सुख, दुःख और मोह । 'अनुशेते' का व्याख्यान करते है—"तामेवाऽविद्यया" इत्यादिसे । शब्द आदि विषयोंकी उपलब्धि भोग है । गुणभिन्न आत्मख्याति अपवर्ग है । सिद्धान्त कहते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे । माया आदिमें

भाष्य

श्रयितुम्। नह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते। सर्वत्रापि यथा कयाचित् कल्पनयाऽजात्वादिसंपादनोपपत्तेः, साङ्ख्यवाद एवेहाऽभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात्। चमसवत्। यथा हि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ० २।२।३) इत्यस्मिन् मन्त्रे स्वातन्त्र्येणाऽयं नामाऽसौ चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते नियन्तुम्, सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः। एवमिहाप्यविशेषोऽजामेकामित्यस्य मन्त्रस्य, नाऽस्मिन् मन्त्रे प्रधानमेवाऽजाभिप्रेतेति शक्यते नियन्तुम् ॥८॥

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति, इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति, अत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादित है ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्रतासे किसी भी वादका समर्थन नहीं कर सकता। सभी वादोंमें जिस किसी कल्पनासे अजात्व आदिका सम्पादन किया जा सकता है और सांख्यवाद ही यहां अभिप्रत है इस प्रकार विशेषके निर्धारणमें कोई प्रमाण नहीं है। चमसके समान। जैसे 'अर्वाग्बिलश्चमस०' (चमस अर्थात् जिसके अधोभागमें तिरछा बिल है और ऊर्ध्वभाग गोल है ऐसा यज्ञपात्र) इस मन्त्रमें यही चमस है ऐसा स्वतन्त्ररीतिसे निरूपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सर्वत्र ही किसी न किसी प्रकार अर्वाग्बिलत्व आदिकी कल्पना हो सकती है। उसी प्रकार यहां भी 'अजामेकाम्' यह मन्त्र किसीका विशेषरूपसे प्रतिपादक नहीं है। इस मन्त्रमें अजासे प्रधान ही अभिप्रेत है ऐसा नियम नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

परन्तु इसमें 'इदं तच्छिर एष०' (यह वह सिर है जो कि अधोमुख एवं ऊपर गोलाकार है) ऐसा वाक्यशेष होनेसे चमसविशेषकी प्रतीति होती है, किन्तु यहां अजापदसे किस अजाका ग्रहण किया जाय, इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

विशेषार्थग्रहो न युक्तः, विशेषग्रहहेतोः प्रकरणादेः अभावादिति हेतुं व्याख्याय दृष्टान्तं व्याचष्टे—चमसवदिति। सर्वत्र—गिरिगुहादौ अपि ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी यह मन्त्र साधारण है, ऐसे साधारण मन्त्रसे विशेष अर्थकी प्रतीति युक्त नहीं है, क्योंकि विशेष प्रतीतिका हेतु प्रकरण आदि यहाँ नहीं है, इस प्रकार हेतुका व्याख्यान करके दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"चमसवत्" इत्यादिसे। "सर्वत्र" गिरिगुहा आदिमें भी ॥ ८ ॥

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

पदच्छेद—ज्योतिरुपक्रमा, तु, तथा, हि, अधीयते, एके ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिरुपक्रमा—तेज उपक्रमे यस्यास्तेजोबन्नलक्षणायाः सा, तु—एव [अत्र निर्धारणीया, न प्रधानम्, कुतः] हि—यस्मात्, एके—छन्दोगाः, तथा—तेजोबन्नात्मिकायाः प्रकृतेः रोहितादिरूपताम्, अधीयते—समामनन्ति ।

भाषार्थ—तेज जिसके आरम्भमें है, उसी तेज, जल, अन्नरूप प्रकृतिका अजाशब्दसे निश्चय करना चाहिए न कि प्रधानका, क्योंकि छन्दोग तेज, जल, अन्नरूप प्रकृतिका रोहित आदिरूप कहते हैं ।

भाष्य

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या । तुशब्दोऽवधारणार्थः । भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गुणत्रयलक्षणा । कस्मात्? तथा ह्येके शाखिन-

भाष्यका अनुवाद

यहांपर अजापदसे उस अजाका ग्रहण करना चाहिए जो परमेश्वरसे उत्पन्न हुई है, तेज, जल और अन्नस्वरूप है और चार प्रकारके भूतसमूहकी जननी है। सूत्रमें 'तु' शब्दका अवधारण (नियम) अर्थ है । यह अजा तेज, जल और अन्नरूप ही है, त्रिगुणात्मक नहीं है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि छन्दोगशाखावाले तेज,

---

रत्नप्रभा

उत्तरसूत्रव्यावर्त्याशङ्कामाह—**तत्र त्विदमिति** । **चतुर्विधस्येति** । जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिजरूपस्य इत्यर्थः । स्मृत्युक्ता कुतो न ग्राह्या इति शङ्कते—**कस्मादिति** । श्रुतेः श्रुत्यन्तराद् अर्थग्रहो युक्तः, साजात्यात् मूलानपेक्षत्वाच्च इत्याह—**तथा हीति** । शाखिनः—छन्दोगाः । किञ्च, रोहितादिशब्दैः अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस शंकाका उत्तर सूत्रसे समाधान होनेवाला है, उसे कहते हैं—"तत्र त्विदम्" इत्यादिसे । "चतुर्विधस्य" अर्थात् जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिजस्वरूपका । सांख्याभिमत प्रधानका ग्रहण क्यों नहीं होता, ऐसी शंका करते हैं—"कस्माद्" इत्यादिसे । सजातीय होने एवं मूलकी अपेक्षा न रखनेके कारण एक श्रुतिका अन्य श्रुतिके अनुसार अर्थग्रहण करना युक्त है, ऐसा कहते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे । 'शाखिनः'—छन्दोग अर्थात् सामवेदी ।

भाष्य

स्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति। तान्येवेह तेजोबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते, रोहितादिशब्दसामान्यात्, रोहितादीनाञ्च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद् भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य। असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १। १) इत्युपक्रम्य 'ते

भाष्यका अनुवाद

जल और अन्नकी परमेश्वरसे उत्पत्ति कहकर 'यदग्ने रोहितं रूपं०' (अग्निमें जो रक्तरूप है, वह तेजका है, जो शुक्लरूप है, वह जलका है और जो कृष्ण है, वह अन्नका है) इस प्रकार उनके ही रोहित आदि रूप कहते हैं। यहां उन्हीं तेज, जल और अन्नकी प्रत्यभिज्ञा होती है, क्योंकि रोहित आदि शब्द समान हैं। रोहित आदि शब्दोंका मुख्य अर्थ रूपविशेष है, गुणोंकी तो प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है और असंदिग्ध वाक्यसे संदिग्ध वाक्यके अर्थका निश्चय करना न्यायसंगत माना जाता है। उसी प्रकार यहां भी 'ब्रह्मवादिनो०' (ब्रह्मवादी कहते

रत्नप्रभा

द्रव्यलक्षणा न्याय्या, अव्यवधानात्, न तु रञ्जनीयत्वादिगुणव्यवहिता सत्त्वादिगुणलक्षणा इत्याह—**रोहितादीनाञ्चेति**। ननु शाखान्तरेण शाखान्तरस्थमन्त्रस्य निर्णयः कथमित्यत आह—**असन्दिग्धेनेति**। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायादिति भावः। यथा शाखान्तरवाक्यात् न प्रधानग्रहः, तथा इहापि श्वेताश्वतरोपनिषदि मायाप्रकरणान्न तद्ग्रह इत्याह—**तथेति**। सृष्ट्यादौ किंसहायं ब्रह्म इति विमृश्य, ते ब्रह्मवादिनो ध्यानाख्ययोगेन परमात्मानमनुप्रविष्टाः सन्तः तत्रैव देवस्य आत्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

रोहित आदि शब्दोंसे लक्षणा द्वारा द्रव्यका ग्रहण करना उचित है, क्योंकि व्यवधान नहीं है, रंजनीयत्व आदि गुणोंसे व्यवहित सत्त्व आदि गुणोंमें लक्षणा नहीं करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—"लोहितादीनां च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि एक शाखाके मन्त्रके अर्थका निर्णय दूसरी शाखाके मन्त्रसे किस प्रकार हो सकता है ? उसपर कहते हैं—"असंदिग्धेन" इत्यादिसे। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायसे ऐसा अर्थ है। जैसे शाखान्तरवाक्यसे प्रधानका ग्रहण नहीं होता, वैसे ही पूर्वापरपर्यालोचन करनेसे प्रतीत होता है कि यह श्वेताश्वतर श्रुति भी प्रकृत मायाका प्रतिपादन करती है, प्रधानका प्रतिपादन नहीं करती है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। सृष्टिके आदिमें ब्रह्मका सहायक कौन है, ऐसा विचार करके ध्यानसंज्ञक योग—समाधिसे

भाष्य

ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १ । ३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात् । वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति । 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वे० ४ । १०, ११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित् प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम् । प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागव-

भाष्यका अनुवाद

हैं, सृष्टिमें ब्रह्मका सहायक कौन है) ऐसा उपक्रम करके 'ते ध्यानयोगानुगता०' (ऋषियोंने समाधिस्थ होकर अपने गुणोंसे अत्यन्त गुप्त हुई देवकी आत्मशक्तिका साक्षात्कार किया) इस कथनसे समस्त जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली परमेश्वरकी शक्ति वाक्यके उपक्रममें समझी जाती है । वाक्यशेषमें भी 'मायां तु प्रकृतिं०' (प्रकृतिको माया जाने और महेश्वरको मायावी जाने) और 'यो योनिं योनि०' (जो एक परमात्मा प्रत्येक अविद्याशक्तिका अधिष्ठाता है) इस प्रकार उसी शक्तिकी प्रतीति होनेसे प्रधान नामकी कोई भी स्वतंत्र प्रकृति अजामंत्रसे प्रतिपादित नहीं हो सकती । प्रकरणसे तो वही दैवी शक्ति, जिसमें

रत्नप्रभा

भूताम् ऐक्येन अध्यस्तां शक्तिं परतन्त्रां मायां सत्त्वादिगुणवतीं ब्रह्मणः सहायम् अपश्यन्नित्यन्वयः । मायाया एकत्वेऽपि तदंशानां जीवोपाधीनां तत्तत्संघातयोनीनामविद्याख्यानां भेदाद् वीप्सा, अव्याकृते अनभिव्यक्ते नामरूपे यस्यां सा । अनेन "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीद्" इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरुक्ता । तस्यां शक्तौ व्यक्ताव्यक्तकार्यलिङ्गकानुमानं सूचयति—**नामेति** । मायाया रोहितादिरूपवत्त्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमात्मामें प्रविष्ट होकर उन ब्रह्मवादियोंने उस देवकी आत्मभूत अर्थात् ऐक्यसे अध्यस्त शक्ति सत्त्वादिगुणवाली परतंत्र मायाको ब्रह्मकी सहायक जाना, 'ते ध्यानयोगानुगता' इत्यादिका ऐसा अन्वय है । मायाके एक होनेपर भी उसके अंशभूत एवं तत्तत्समूहके कारणभूत अविद्यानामक जीवकी उपाधियोंके भेदसे 'योनिं योनिम्' इस प्रकार वीप्सा कही गई है । अव्याकृतनामरूपा—अनभिव्यक्त नाम और रूप हैं जिसके । इससे 'तद्धेदं तर्ह्य०' (यह जगत् सृष्टिके पहले अनभिव्यक्त था) इस अन्य श्रुतिकी भी प्रसिद्धि कही गई है । उस दैवी शक्तिमें व्यक्ताव्यक्त-कार्यलिंगक अनुमान भी प्रमाण है, ऐसा सूचित करते हैं—"नाम" इत्यादिसे । परन्तु मायाशक्तिका रोहित आदि स्वरूप किस प्रकार है, इसपर कहते हैं—

भाष्य

स्थाने मन्त्रेण म्नायत इत्युच्यते । तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्यमुक्तम् ॥९॥

कथं पुनस्तेजोबन्नानां त्रैरूप्येण त्रिरूपाऽजा प्रतिपत्तुं शक्यते, यावता न तावत्तेजोबन्नेष्वजाकृतिरस्ति, न च तेजोबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तो[illegible] संभव[illegible]ति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

नाम और रूप अव्याकृत हैं और जो नाम और रूपकी पूर्वावस्था है, इस मंत्रसे भी प्रतिपादित होती है, ऐसा कहा जाता है और उसके विकार—तेज, जल और अन्न त्रिरूप हैं, अतः वह भी त्रिरूप कही गई है ॥ ९ ॥

तब तेज, जल और अन्नके त्रैरूप्यसे अजा त्रिरूप किस प्रकार मानी जाय ? जब कि तेज, जल और अन्नमें अजाकी आकृति नहीं है और तेज, जल और अन्नकी उत्पत्ति श्रुतिमें कही गई है, इसलिए उत्पत्ति न होनेके कारण वे अज-शब्दवाच्य हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, इसलिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

रत्नप्रभा

कथमित्यत आह—**तस्या इति** । विषयः—आश्रयः । एवं प्रकरणबलात् माया एव अजा इति भाष्यकृन्मतम् ॥ ९ ॥

छान्दोग्यश्रुत्या तेजो[illegible]ऽवान्तरप्रकृतिः अजा इति सूत्रकृन्मतेन उत्तर-सूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—**कथमिति** । किं तेजोऽबन्नेषु अजाशब्दो रूढः, न जायत इति यौगिको वा ? नाऽऽद्यः, तेषु, अजात्वजातेः असत्त्वादित्याह—**यावतेति** । यत इत्यर्थः । अतो न रूढ इति शेषः । न द्वितीय इत्याह—**न चेति** । जातिः—जन्म, अजातिः—अजन्म ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तस्याः" इत्यादिसे । विषय—आश्रय । इस प्रकार प्रकरणके बलसे माया ही अजा है, ऐसा भाष्यकारका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार तेज, जल और अन्नस्वरूप अवान्तर प्रकृति अजा है, सूत्रकारके इस मतका अवलम्बन करके उत्तर सूत्रसे निराकरणीय शंका कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । क्या तेज, जल और अन्नमें 'अजा' शब्द रूढ है या 'न जायते' इस प्रकार यौगिक है । रूढ तो नहीं है, क्योंकि उसमें अजात्वजाति नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यावता" इत्यादिसे । यावता—जिससे । 'अजाकृतिरस्ति' के बाद 'अतो न रूढः' (इससे रूढ नहीं है) इतना शेष समझना चाहिए । यौगिक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । जाति—उत्पत्ति, अजाति—अनुत्पत्ति ।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

पदच्छेद—कल्पनोपदेशात्, च, मध्वादिवत्, अविरोधः।

पदार्थोक्ति—कल्पनोपदेशाच्च—तेजोबन्नात्मकप्रकृतेः साम्यद्योतनार्थं कल्पनयाऽजात्वोपदेशात्, मध्वादिवत्—यथा मधुभिन्नादित्यस्य मधुत्वोपदेशः तद्वत् [अजाभिन्नायाः प्रकृतेरजात्वोपदेशे] अविरोधः—न कश्चिद्विरोधः [तस्मादशब्दं प्रधानमिति सिद्धम्]

भाषार्थ—तेज, जल, अन्नरूप प्रकृतिकी समानता दिखलानेके लिए कल्पनासे अजात्वका उपदेश किया गया है। जैसे मधुभिन्न आदित्यमें मधुत्वका उपदेश है, उसी प्रकार अजाभिन्न प्रकृतिमें अजात्वका उपदेश होनेसे कोई विरोध नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है।

भाष्य

नाऽयमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः, नापि यौगिकः, किं तर्हि ? कल्पनोपदेशोऽयम्, अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते। यथा हि लोके यदृच्छया काचिदजा रोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद् बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चरा-

भाष्यका अनुवाद

यह अजाशब्द जातिनिमित्तक रूढ़ नहीं और यौगिक भी नहीं है। किन्तु काल्पनिक है। चराचर जगत्की कारणभूत तेज, जल और अन्नरूप चराचर प्रकृतिमें अजासादृश्यकी कल्पना की गई है। जैसे लोकमें कोई एक ऐसी अजा—बकरी हो जाय, जिसका लाल, सफेद और काला रंग हो, समान रंगवाले बहुत-से बच्चे हों, और उसके ऊपर कोई एक अज (बकरा) प्रेम करता हुआ उसके पीछे पीछे फिरे और कोई एक भोग भोगनेके पीछे इसका त्याग कर दे, वैसे ही यह भी तेज,

रत्नप्रभा

लौकिकाऽजासादृश्यकल्पनया तेजोऽबन्नानाम् अजात्वोपदेशाद् गौणोऽयं शब्द इति परिहरति—**कल्पनेति**। अनियमः—यदृच्छा। बर्करः—बालपशुः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

लौकिक अजाशब्दके साथ सादृश्यकी कल्पनासे तेज, जल और अन्नका अजारूपसे उपदेश किया है, इससे अजाशब्द गौण है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"कल्पना"

भाष्य

चरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते, विदुषा च परित्यज्यत इति। न चेदमाशङ्कितव्यम्—एकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोति इति। नहीयं क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा किन्तु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषैवैषा। प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते, भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः। मध्वादिवत्। यथा

भाष्यका अनुवाद

जल और अन्नस्वरूप त्रिवर्णात्मक भूतप्रकृति समान रूपवाले बहुतसे चराचर लक्षण विकारोंको उत्पन्न करती है। अविद्वान् क्षेत्रज्ञ—जीव इसका उपभोग करता है और विद्वान् इसका त्याग करता है। ऐसी शङ्का न करनी चाहिए कि एक क्षेत्रज्ञ इसके पास शयन करता है और दूसरा इसका परित्याग करता है, इससे पारमार्थिक क्षेत्रज्ञ भेद जो परको—सांख्यको इष्ट है, वह प्राप्त होता है, क्योंकि यह क्षेत्रज्ञके भेदका प्रतिपादन करनेकी इच्छा नहीं है, किन्तु बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाका प्रतिपादन करने की इच्छा है। प्रसिद्ध भेदका अनुवाद करके बन्ध और मोक्ष की व्यवस्थाका प्रतिपादन किया गया है। भेद तो उपाधिनिमित्त है और मिथ्याज्ञानसे कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (एक देव सब भूतोंमें गूढ़ है, सबमें व्यापक है और सब भूतोंका अन्तरात्मा

रत्नप्रभा

यदुक्तम्—जीवभेदेन प्रधानवादप्रत्यभिज्ञा इति, तत् न इत्याह—**न चेदमिति**। व्यवस्थार्थो भेदोऽपि अर्थात् प्रतिपाद्यते इत्याह—**प्रसिद्धं तु इति**। सत्य एव प्रसिद्ध इत्यत आह—**भेदस्त्विति**। कल्पनोपदेशे दृष्टान्तं व्याचष्टे—**मध्विति**। न च योगस्य मुख्यवृत्तित्वात् तेन प्रधानग्रहो न्याय्य इति वाच्यम्, रूढार्थानपेक्षात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। यदृच्छा—अनियम। बर्कर—बाल पशु। जीवभेदसे प्रधानवादकी प्रत्यभिज्ञा होती है, यह जो कहा गया है, वह युक्त नहीं, ऐसा कहते हैं—"न चेदम्" इत्यादिसे। व्यवस्थाके लिए जो भेद है, उसका भी आर्थिक प्रतिपादन होता है, ऐसा कहते हैं—"प्रसिद्धं तु" इत्यादि। यदि कोई कहे कि भेद प्रसिद्ध है, तो सत्य ही है, उसका निराकरण करते हैं—"भेदस्तु" इत्यादिसे। कल्पनासे उपदेश है, इसमें जो दृष्टान्त दिखाया है, उसका व्याख्यान करते हैं—"मधु" इत्यादिसे। यौगिक अर्थ मुख्य है, इसलिए उससे प्रधानका ग्रहण करना उचित है, यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि रूढ अर्थकी अपेक्षा न रखनेवाले

भाष्य

आदित्यस्याऽमधुनो मधुत्वम् [छा० ३।१], वाचश्चाऽधेनोर्धेनुत्वम् [बृ० ५।८], द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम् [बृ० ८।२।९] इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः। तस्मादविरोधस्तेजोबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। मधु आदि के समान, अर्थात् जैसे आदित्य मधु नहीं है, तो भी वह मधु कहा गया है [छा० ३।१] जैसे वाणी धेनु न होने पर भी धेनु कही जाती है [बृ० ५।८] और द्युलोक आदि अग्नि नहीं हैं, तो भी अग्नि कहे गये हैं [बृह० ८।२।९] इत्यादि कल्पना है। उसी प्रकार यहाँ भी जो वस्तुतः अजा नहीं है उसमें अजात्वकी कल्पना की गई है, ऐसा अर्थ है। इससे सिद्ध हुआ कि तेज, जल और अन्नमें अजाशब्दका प्रयोग विरुद्ध नहीं है ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

योगात् तदाश्रितगुणलक्षणाया बलीयस्त्वात्। गुणवृत्तौ हि रूढिः आश्रिता भवति। तथा च रोहितादिशब्दसमभिव्याहारानुगृहीतया रूढ्याश्रितया गुणवृत्त्या प्रधाने योगं बाधित्वाऽवान्तरप्रकृतिः अजाशब्देन ग्राह्या। यथा मध्वादिशब्दैः प्रसिद्धमध्वाद्याश्रितगुणलक्षणया आदित्यादयो गृह्यन्ते, तद्वत्। तस्मात् अशब्दं प्रधानम् इति सिद्धम् ॥ १० ॥ (२) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

योगकी अपेक्षा रूढिके आश्रयमें रहनेवाली गुणलक्षणा अधिक बलवती है। गुणवृत्तिमें रूढिका ग्रहण किया जाता है, इसलिए जैसे मधु आदि शब्दोंसे प्रसिद्ध मधु आदिके आश्रयमें स्थित गुणलक्षणासे आदित्य आदिका ग्रहण होता है, वैसे ही अजाशब्दसे यौगिक अर्थ प्रधानका बाध करके रोहित आदि शब्दोंके समभिव्याहारसे अनुगृहीत रूढिके आश्रयमें रहनेवाली गुणवृत्तिसे अवान्तर प्रकृतिका ग्रहण है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान श्रुतिप्रतिपाद्य नहीं है ॥ १० ॥

[३ संख्योपसंग्रहाधिकरण सू० ११-१३]

पञ्च पञ्चजनाः सांख्यतत्त्वान्याहो श्रुतीरिताः ।
प्राणाद्याः सांख्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ॥१॥
न पञ्चविंशतेर्भानमात्माकाशातिरेकतः ।
संज्ञाः पञ्चजनेत्येषा प्राणाद्याः संज्ञिनः श्रुताः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' इस श्रुतिमें सांख्याभिमत तत्त्व कहे गये हैं या प्राण आदि पांच कहे गये हैं ?

पूर्वपक्ष—उक्त श्रुतिमें पञ्चविंशति संख्याका भान होता है, इसलिए सांख्योक्त तत्त्व कहे गये हैं।

सिद्धान्त—उक्त श्रुतिमें केवल पञ्चविंशति संख्याका भान नहीं होता, क्योंकि आत्मा और आकाश अतिरिक्त कहे गये हैं। 'पञ्चजन' यह संज्ञा है, प्राण आदि संज्ञी हैं, इसलिए प्राण आदि कहे गये हैं।

---

* निष्कर्ष यह है कि बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें श्रुति है—"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" । इसका यह अर्थ है कि पांच पञ्चजन और आकाश जिसके आश्रित हैं, उसी आश्रयभूत आत्माको मैं अमृत ब्रह्म जानता हूँ। इस प्रकार जाननेवाला मैं अमृत होऊँगा। यहां संशय होता है कि 'पञ्च पञ्चजनाः' इससे उक्त पदार्थ सांख्यशास्त्रोक्त तत्त्व हैं अथवा श्रुतिमें उक्त प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्न हैं ?

पूर्वपक्षी कहता है कि सांख्यके तत्त्व हैं, क्योंकि सांख्यशास्त्रमें प्रसिद्ध पञ्चविंशति संख्याका भान होता है। यहां 'पञ्च पञ्च' इस प्रकार दो शब्द हैं। एक 'पञ्च' शब्दसे सांख्यतत्त्वस्थ पञ्च संख्या कही गई है और दूसरे 'पञ्च'शब्दसे पञ्चसंख्यागत पञ्चसंख्या कही गई है। इससे पञ्चसंख्यायुक्त तत्त्वपंचक ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकार पञ्चविंशति संख्याका भान होनेसे सांख्यशास्त्रप्रतिपादित तत्त्व कहे गये हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यद्यपि पञ्चसंख्यागत अन्य पञ्चसंख्याका श्रवण है, तो भी यहां पञ्चविंशति संख्या नहीं हो सकती, क्योंकि पञ्चविंशतिसंख्यक तत्त्वोंके आश्रयरूपसे आत्मा कहा गया है। वह आत्मा पञ्चविंशतिके अन्तर्भूत नहीं है। यदि अन्तर्भूत मानें तो एक हीके आधार और आधेय भावमें विरोध है। इनसे भिन्न आकाश भी कहा गया है। वह भी पञ्चविंशतिके अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि 'आकाशश्च' इस प्रकार पृथक् निर्देश और समुच्चय है। इसलिए आत्मा और आकाशके साथ सप्तविंशतिका ज्ञान होनेसे सांख्यके तत्त्व नहीं कहे जा सकते हैं। तब वाक्यका अर्थ क्या है ? कहते हैं—'पञ्चजन' शब्द संज्ञा है, क्योंकि 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (दिशा और संख्याके वाचक शब्दोंका संज्ञाके अर्थमें सुबन्त उत्तरपदके साथ समास होता है) इससे समासका विधान है। इससे पञ्चजन संज्ञावाले पदार्थ पांच हैं, ऐसा

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

पदच्छेद—न, सङ्ख्योपसङ्ग्रहात्, अपि, नानाभावात्, अतिरेकात्, च।

पदार्थोक्ति—सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्यस्मिन् मन्त्रे श्रूयमाणया सङ्ख्यया पञ्चविंशतिसङ्ख्यानामुपसङ्ग्रहादपि, नन प्रधानस्य शब्दवत्त्वम् [कुतः] नानाभावात्—तेषां पञ्चानां पञ्चकानामेकपञ्चकपर्याप्तान्यपञ्चकव्यावृत्तधर्मवत्त्वाभावेन नानात्वात्, अतिरेकाच्च—अस्मिन् मन्त्रे श्रूयमाणयोरात्माकाशयोः पञ्चविंशतिसङ्ख्यातिरिक्तत्वात् [तस्मान्नात्र प्रधानादितत्त्वग्रहणमुचितम्]।

भाषार्थ—'यस्मिन् पञ्च०' इस मंत्रमें श्रूयमाण संख्यावाचकपदसे पञ्चविंशति-संख्याका ग्रहण करनेपर भी पंचविंशतितत्त्वग्रहणद्वारा प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं हो सकता, क्योंकि उन पांचों पंचकोंमें प्रत्येक केवल एक पंचकमें रहने-वाला अन्य पंचकमें न रहनेवाला धर्म नहीं है, इसलिए वे पांच पंचक नहीं हो सकते हैं, जिससे पंचविंशति संख्याके ग्रहणसे पंचविंशति तत्त्वोंका ग्रहण हो जाय। और उक्त श्रुतिमें किसी प्रकार पांच पंचक मानकर पंचविंशति संख्याका ग्रहण करनेपर भी आत्मा और आकाश अलग कहे गये हैं, इससे सप्तविंशति तत्त्व मानने पड़ेंगे, ऐसा मानें तो अपसिद्धान्त हो जायगा। इसलिए प्रधान आदि तत्त्वोंका ग्रहण उचित नहीं है।

रत्नप्रभा

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च। पञ्चजनशब्दः सांख्यतत्त्वपरोऽन्यपरो वेति योगरूढ्योः अनिश्चयात् संशये यथा तत्त्वविद्याधिकारे छागायां तात्पर्याभावाद् अजापदे रूढित्यागः, तथा पञ्चमनुष्येषु तात्पर्याभावात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न संख्योप..............तिरेकाच्च" 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यादि श्रुतिमें पठित पञ्चजनशब्द यौगिक है या रूढ यह निश्चय न होनेसे सांख्यतत्त्वोंका प्रतिपादन करता है या अन्यका, ऐसा संशय होनेपर जैसे तत्त्वविद्याके प्रकरणमें बकरीरूप अर्थमें तात्पर्य न होनेसे अजामन्त्रगत अजापदमें रूढिका त्याग किया गया है, वैसे ही पांच मनुष्योंमें

अर्थ होता है। संज्ञी तो वाक्यशेषसे प्राण आदि समझने चाहिए। "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः" यह वाक्यशेष है। प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मनके साक्षी चिदात्माका दूसरे प्राण आदि शब्दोंसे अभिधान है। इससे सिद्ध हुआ कि वाक्यशेषमें कथित प्राण आदि पांच ही पंचजन हैं।

भाष्य

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात् सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥' (बृ० ४।४।१७) इति। अस्मिन् मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते पञ्चशब्दद्वयदर्शनात्। त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते। तया च पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्ष्यन्ते तावन्त्येव च

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार अजामंत्रमें सांख्यमतका परिहार होनेपर भी दूसरे मन्त्रका अवलम्बन करके सांख्य पुनः पूर्वपक्ष करता है—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना०' (जिसमें पांच पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित हैं, उसी आत्माको मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ, इस प्रकार जाननेवाला मैं अमृत हूँ)। इस मंत्रमें 'पञ्च पञ्चजनाः' इस प्रकार पञ्चसंख्यागत दूसरी पञ्च संख्याका श्रवण है, क्योंकि दो पञ्चशब्द देखनेमें आते हैं। वे ये पंच-पंचक पचीस होते हैं। उसी प्रकार पचीस संख्यासे जितने

रत्नप्रभा

पंचजनशब्देन रूढिं त्यक्त्वा तत्त्वानि ग्राह्याणीति दृष्टान्तसङ्गतिं सूचयन् मन्त्रम् उदाहृत्य पूर्वपक्षयति—**एवमित्यादिना**। फलं पूर्ववत्। प्राणचक्षुश्श्रोत्रान्नमनांसि वाक्यशेषस्थाः पञ्चजनाः पञ्च। तत्र चत्वारः सूत्रम्, अन्नं विराट्, तयोः कारणम् अव्याकृतम् आकाशश्च यस्मिन् अध्यस्ताः तमेव आत्मानममृतं ब्रह्म मन्ये तस्मात् मननाद् विद्वानहममृतोऽस्मीति मन्त्रदृशो वचनम्। ननु अस्तु पञ्चत्वविशिष्टेषु पञ्चजनेषु पुनः पञ्चत्वान्वयात् पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः तावता कथं सांख्यतत्त्वग्रह इत्याशङ्क्य संख्याया धर्म्याकाङ्क्षायां तत्त्वानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

तात्पर्य न होनेसे रूढ़िका त्याग करके पञ्चजनशब्दसे सांख्यतत्त्वोंका ग्रहण करना युक्त है, इस प्रकार दृष्टान्तरूप सङ्गतिको सूचित करते हुए मन्त्रको उद्धृतकर पूर्वपक्ष करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके फल पूर्वाधिकरणके समान हैं। वाक्यशेषस्थ प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन ये पांच पञ्चजन हैं। उनमें अन्न विराट् है और शेष चार सूत्र हैं। उनके कारण, अव्याकृत अर्थात् आकाशके आधार, उसी आत्माको मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ और ऐसा माननेसे विद्वान् हुआ मैं अमृत हूँ, ऐसा मन्त्रद्रष्टाका वचन है। यदि कोई कहे कि पञ्चत्वविशिष्ट पञ्चजनके साथ पञ्चपदका पुनः अन्वय होनेसे पचीस संख्याकी प्रतीति होती है, तो इससे सांख्यतत्त्वका ग्रहण किस प्रकारसे होता है, ऐसी शङ्का

भाष्य

तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' (सांख्यका० ४)

इति । तया श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात् प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम् ।

भाष्यका अनुवाद

संख्येय—संख्यावालोंकी आकांक्षा होती है, उतने ही तत्त्व सांख्य शास्त्रमें गिने गये हैं—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः०' (मूल प्रकृति किसीकी विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं, सोलह तत्त्व विकार ही हैं, पुरुष न प्रकृति है और न विकृति ही है) । श्रुतिमें प्रसिद्ध उस पच्चीस संख्यासे उन स्मृति प्रसिद्ध पच्चीस तत्त्वोंका संग्रह होनेसे प्रधान आदि श्रुतिप्रतिपादित हैं, ऐसा पुनः प्राप्त हुआ ।

रत्नप्रभा

ग्राह्याणि इत्याह—तया चेति । जगतो मूलभूता प्रकृतिः त्रिगुणात्मकं प्रधानम् अनादित्वाद् अविकृतिः कस्यचित् कार्यं न भवतीत्यर्थः । महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि इति सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च, तत्र महान् प्रधानस्य विकृतिः अहङ्कारस्य प्रकृतिः, अहंकारः तामसः पञ्चतन्मात्राणां शब्दादीनां प्रकृतिः, सात्त्विकः एकादशेन्द्रियाणाम्, पञ्च तन्मात्राश्च पञ्चानां स्थूलभूतानाम् आकाशादीनां प्रकृतयः, पञ्च स्थूलभूतानि एतानि एकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशसंख्याको गणः—विकार एव न प्रकृतिः, तत्त्वान्तरोपादानत्वाभावात्; पुरुषस्तु उदासीन इति सांख्यकारिकार्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करके संख्या जिसमें रहती है उस धर्मीकी आकांक्षा होनेपर तत्त्व ग्राह्य होंगे, ऐसा कहते हैं—"तया" इत्यादिसे । जगत्की मूलभूत प्रकृति जो त्रिगुणात्मक प्रधान है, वह अनादि होनेसे अविकृति है—किसीका भी कार्य नहीं है । महत्, अहङ्कार और पांच तन्मात्राएँ ये सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं । उनमें महत् प्रधानकी विकृति और अहङ्कारकी प्रकृति है, तामस अहङ्कार शब्द आदि पांच तन्मात्राओंकी प्रकृति है और सात्त्विक अहङ्कार ग्यारह इन्द्रियोंकी प्रकृति है । पांच तन्मात्राएँ स्थूलभूत ही आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीकी प्रकृतियाँ हैं । पाँच स्थूलभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ ये सोलह विकार ही हैं, प्रकृति नहीं है, क्योंकि ये दूसरे तत्त्वोंके कारण नहीं हैं और पुरुष तो न प्रकृति है और न विकृति ही हैं, किन्तु जलमें स्थित कमलपत्रके समान निर्लिप्त—उदासीन है, कूटस्थ नित्य और अपरिणामी है, ऐसा सांख्यकारिकाका अर्थ है ।

भाष्य

ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या। कस्मात्? नानाभावात्। नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि, नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्च संख्या निविशेरन्, नह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वा-

भाष्यका अनुवाद

इस पर हम कहते हैं—संख्याके संग्रहसे भी प्रधान आदि श्रुतिप्रतिपादित हैं ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए। किससे? पृथग् भावसे। ये पच्चीस तत्त्व पृथक् हैं, इनमें प्रत्येक पञ्चकका साधारण धर्म नहीं है, जिससे कि पच्चीस संख्यामें दूसरी पांच पांच संख्याएँ अन्तर्भूत हों, क्योंकि किसी आधारके बिना

रत्नप्रभा

संख्यया तत्त्वानाम् उपसंग्रहात् शब्दवत्त्वम् इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—**नेति**। सांख्यीयतत्त्वाविरुद्धं नानात्वम् इष्टमित्यत आह—**नैषामिति**। पञ्चसु पञ्चसु साधारणस्य इतरपञ्चकाद् व्यावृत्तस्य धर्मस्याऽभावोऽत्र नानात्वं विवक्षितमित्यर्थः। यद्यपि ज्ञानकर्मेन्द्रियेषु दशसु ज्ञानकरणत्वं कर्मकरणत्वं च पञ्चकद्वयेऽस्ति पञ्चतन्मात्रासु पञ्चसु स्थूलप्रकृतित्वं च, तथापि यस्मिन् इति आत्मन आकाशस्य च पृथगुक्तेः सत्त्वरजस्तमोमहदहङ्काराः पञ्च कर्तव्याः, मनश्चत्वारि भूतानि च पञ्च अस्मिन् पञ्चकद्वये मिथोऽनुवृत्तेतरपञ्चकव्यावर्त्तकधर्मो नास्ति इत्यभिप्रायः। माऽस्तु इत्यत आह—**येनेति**। धर्मेणेत्यर्थः। तदेव स्फुटयति—**नहीति**। महासंख्यायाम् अवान्तरसंख्याः कञ्चिद् धर्मम् आदाय प्रविशन्ति, यथा द्वौ अश्विनौ सप्त सप्तर्षयोऽष्टौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

संख्यासे सांख्यमतके तत्त्वोंका ग्रहण होनेसे प्रधान भी श्रुतिप्रतिपादित है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—"न" इत्यादिसे। सांख्याचार्योंके मतानुसार अनेक तत्त्व मानना हमें इष्ट है, इसपर कहते हैं—"नैषाम्" इत्यादि। इतर पंचकमें न रहनेवाले पांच पांच तत्त्वोंमें रहनेवाले साधारण धर्मका अभाव ही यहाँ पृथग्भाव विवक्षित है। यद्यपि पांच ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञानकरणत्व है, पाँच कर्मेन्द्रियोंमें कर्मकरणत्व है, पाँच तन्मात्राओंमें स्थूलप्रकृतित्व है, तो भी 'यस्मिन्' (जिसमें) इस प्रकार आत्मा और आकाशके पृथक् कथनके कारण सत्त्व, रज, तम, महत् और अहंकार इन पांचोंका एक समूह करना चाहिए, मन और चार भूतोंको मिलाकर इन पांचोंका एक समूह करना चाहिए, इन दोनों पंचकोंमें प्रत्येकमें अनुवृत्त इतर पंचकोंसे व्यावृत्त धर्म नहीं है, ऐसा अभिप्राय है। न हो, इसपर कहते हैं—"येन" इत्यादि। 'येन'—धर्मसे। उसीको स्पष्ट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। महासंख्यामें अवान्तर संख्याएँ प्रविष्ट—अन्तर्गत होती हैं, जैसे कि दो अश्विनी-

भाष्य

दिकाः संख्या निविशन्ते। अथोच्येत—पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' इति द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति तद्वत्, इति। तदपि नोपपद्यते। अयमेवाऽस्मिन् पक्षे दोषो यल्लक्षणाऽऽश्रयणीया स्यात्। परश्चाऽत्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना इति, भाषिकस्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्। प्रयोगान्तरे

भाष्यका अनुवाद

पृथक्भूत पदार्थोंमें द्वित्व आदि संख्या नहीं रहती। यदि ऐसा कहो कि जैसे 'पञ्च सप्त च वर्षाणि०' (पांच और सात वर्ष तक वृष्टि नहीं हुई) इस प्रकार बारह वर्षकी अनावृष्टि कहते हैं, वैसे ही अवयव द्वारा पच्चीस संख्या ही लक्षित होती है, यह कथन भी युक्त नहीं है। इस पक्षमें यही दोष है कि लक्षणा माननी पड़ती है। और दूसरा पञ्चशब्द जनशब्दके साथ समस्त हुआ है, क्योंकि भाषिकस्वरसे एक पद है, ऐसा निश्चय होता है। उसी प्रकार 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तुझे

रत्नप्रभा

वसवश्च इति सप्तदश इति अत्राऽश्वित्वादिकमादाय द्वित्वादयः प्रविशन्ति, नाऽन्यथेत्यर्थः। पञ्चशब्दद्वयेन स्ववाच्यन्यूनसंख्याद्वारेण तद्व्याप्या महासंख्यैव लक्ष्यत इति सदृष्टान्तं शङ्कते—**अथेति**। मुख्यार्थस्य वक्ष्यमाणत्वात् लक्षणा न युक्तेति परिहरति—**तदपि नेति**। पञ्चजनशब्दयोः असमासमङ्गीकृत्य पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः निरस्ता। सम्प्रति समासनिश्चयात् न तत्प्रतीतिरित्याह—**परश्चेति**। समासहेतुमाह—**भाषिकेति**। अयमर्थः—अस्मिन् मन्त्रे प्रथमः पञ्चशब्दः आद्युदात्तः। द्वितीयः सर्वानुदात्तः। जनशब्दश्च अन्तोदात्तः। तथा च न द्वितीयपञ्चशब्द-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कुमार सात सप्तर्षि और आठ वसु मिलकर सत्रह होते हैं, इनमें अश्वित्व आदिको लेकर ही द्वित्व आदि प्रवेश करते हैं, दूसरे प्रकारसे नहीं, ऐसा आशय है। दो पंचशब्द जिस न्यून संख्याका अभिधान करते हैं, उसके द्वारा वे उससे व्याप्त महासंख्याको लक्षित करते हैं, दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। मुख्य अर्थ कहा जायगा, इस लिए लक्षणा नहीं करनी चाहिए ऐसा परिहार करते हैं—"तदपि न" इत्यादिसे। पञ्च और जन शब्दोंमें समास न मानकर पञ्चविंशतिसंख्याकी प्रतीतिका निरास किया गया। अब समास माननेपर पच्चीस संख्याकी प्रतीति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—"परश्च" इत्यादिसे। समासमें कारण कहते हैं—"भाषिक" इत्यादिसे। यह अर्थ है कि इस मंत्रमें प्रथम पंचशब्द आद्युदात्त है, द्वितीय पंचशब्द सर्वानुदात्त है और जनशब्द अन्तोदात्त है,

(१) "न्रः सङ्ख्यायाः"। (रेफान्त-नान्त संख्यावाचक शब्दका आद्युदात्त हो) इस सूत्रमें पञ्चजनशब्द आद्युदात्त है।

भाष्य

च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १।६।१।२) इत्यैकपद्यैकस्वर्यैक-

भाष्यका अनुवाद

पञ्च-पञ्चजनके) इस अन्य प्रयोगमें एक पद, एक स्वर और एक विभक्ति देखी

रत्नप्रभा

जनशब्दयोः समासं विना अन्त्यस्य आकारस्य उदात्तत्वं पूर्वेषाम् अनुदात्तत्वं च घटते। "समासस्य" (पा० सू० ६।१।२२३) इति सूत्रेण समासस्याऽन्तोदात्तत्वविधानात् "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (पा० सू० ६।१।१५८) इति च सूत्रेण यस्मिन् पदे उदात्तः स्वरितो वा यस्य वर्णस्य विधीयते, तमेकं वर्जयित्वाऽवशिष्टं तत्पदमनुदात्ताच्कं भवतीति विधानादेव मान्त्रिकान्तोदात्तस्वरेण एकपदत्वनिश्चयः। भाषिकाख्ये तु शतपथब्राह्मणस्वरविधायकग्रन्थे "स्वरितोऽनुदात्तो वा" इति सूत्रेण यो मन्त्रदशायाम् अनुदात्तः स्वरितो वा स ब्राह्मणदशायाम् उदात्तो भवति इत्यपवाद आश्रितः। तथा च अन्त्याद् आकारात् पूर्वेषामनुदात्तानाम् उदात्तत्वं ब्राह्मणावस्थायां प्राप्तम्, "उदात्तमनुदात्तमनन्त्यम्" इति सूत्रेण मन्त्रदशायाम् उदात्तस्य अनन्त्यस्य परलग्नतया उच्चार्यमाणस्य अनुदात्तत्वं विहितम्। तथा च अत्र नकाराद् उपरितनः आकारः आकाशश्च इत्यनेन श्लिष्टतया पठ्यमानोऽनुदात्तो भवति, अयं मन्त्रानुदात्तस्वरो भाषिकः, तेन ब्राह्मणस्वरेण एकपदत्वं निश्चीयते इति। प्रकटार्थकारैस्तु पाठकप्रसिद्धान्तोदात्तस्वरः भाषिक इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए दूसरे पंचशब्द और जनशब्दमें समासके बिना अन्त्य आकार उदात्त एवं उसके पहलेके वर्ण अनुदात्त नहीं हो सकते। 'समासस्य' इस सूत्रसे समासका अन्त उदात्त होता है और 'अनुदात्तं०' इस सूत्रसे जिस पदमें जिस वर्णके स्थानमें उदात्त या स्वरितका विधान है, उस एक वर्णको छोड़कर उस पदके शेष सब स्वर अनुदात्त होते हैं, ऐसा विधान है, इसलिए मंत्रमें अन्त्य स्वर उदात्त होनेसे एकपदत्वका निश्चय होता है। शतपथ ब्राह्मणके स्वरविधान करनेवाले भाषिक नामक ग्रन्थमें 'स्वरितोऽनुदात्तो वा' इस सूत्रसे जो मंत्रदशामें स्वरित अथवा अनुदात्त रहता है, वह ब्राह्मणदशामें उदात्त होता है, ऐसा अपवाद स्वीकार किया है। इसलिए अन्त्य आकारसे पूर्व स्थित अनुदात्त स्वरोंको ब्राह्मणदशामें उदात्तत्व प्राप्त हुआ, 'उदात्तमनुदात्त०' इस सूत्रसे मंत्रदशामें अन्त्यभिन्न एवं अग्रिम पदसे मिलाकर उच्चारण किये जानेवाले उदात्त स्वरमें अनुदात्तत्वका विधान है। इसलिए यहां नकारोत्तरवर्ती आकार अग्रिम 'आकाशश्च' पदके साथ मिलाकर पढ़े जानेके कारण अनुदात्त होता है, यह मंत्रानुदात्त स्वर भाषिक है, इससे एकपदत्वका निश्चय होता है। प्रकटार्थकार तो 'पाठकोंमें प्रसिद्ध अन्तोदात्त स्वर भाषिक है,

भाष्य

विभक्तिकत्वाऽवगमात्। समस्तत्वाच्च न वीप्सा पञ्च पञ्चेति। तेन न

भाष्यका अनुवाद

जाती है। समस्त पद होनेसे पञ्च पञ्च—ऐसी वीप्सा भी नहीं है और इसीसे

रत्नप्रभा

व्याख्यातम्, तद्व्याख्यानं कल्पतरुकारैः दूषितम्। अन्तानुदात्तं हि समाम्नातारः पञ्चजनशब्दमधीयते इति पाठकप्रसिद्धिः असिद्धा इति। तथा च "पञ्च पञ्चजनाः" इति मान्त्रिकान्तोदात्तः स्वरः, "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" (बृ०४।४।१७) इत्यन्तानुदात्तो ब्राह्मणस्वरः इति विभागः। उभयथाऽपि ऐकपद्यात् समाससिद्धिरिति। तैत्तिरीयकप्रयोगादपि एकपदत्वमित्याह—**प्रयोगान्तरे चेति**। आज्य! त्वा—त्वाम् पञ्चानां पञ्चजनानां देवविशेषाणाम् यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि इति आज्यग्रहणमन्त्रशेषः। देवतानां कर्मणि यन्त्रवत् अवस्थितं शरीरं तदेव धर्त्रम्—इहाऽमुत्र भोगाधारः, तस्मै—तस्याऽवैकल्यार्थमिति यजमानोक्तिः। अस्तु समासः ततः किम्, इत्यत आह—**समस्तत्वाचेति**। आवृत्तिः वीप्सा तदभावे पञ्चकद्वयाग्रहणात् पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः असिद्धेति भावः। जनपञ्चकमेकं पञ्चकानां पञ्चकं द्वितीयमिति पञ्चकद्वयम् तस्य पञ्चपञ्च इति ग्रहणं नेत्यक्षरार्थः। किञ्च, असमासपक्षेऽपि किं पञ्चशब्दद्वयोक्तयोः पञ्चत्वयोः परस्परान्वयः, किं वा तयोः शुद्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा व्याख्यान करते हैं, वह व्याख्यान कल्पतरुकारसे दूषित किया गया है, क्योंकि वेद पढ़नेवाले लोग पञ्चजनशब्दको अन्तानुदात्त कहते हैं यह पाठकप्रसिद्धि असिद्ध है। इसलिए 'पञ्च पञ्चजनाः' इसमें अन्तोदात्त मांत्रिक स्वर है, और 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इसमें अन्तानुदात्त ब्राह्मणस्वर है। दोनों प्रकारसे पदके एक होनेके कारण समास सिद्ध होता है। तैत्तिरीयक प्रयोगसे भी एकपदत्व सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"प्रयोगान्तरे च" इत्यादिसे। 'आज्य! त्वा पञ्चजनानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि' यह आज्यग्रहणमंत्रशेष है। हे आज्य! पांच देवताओंके कर्ममें यंत्ररूपसे अवस्थित, ऐहिक एवं पारलौकिक भोग धारण करनेमें समर्थ अपने शरीरकी रक्षाके लिए तुझे ग्रहण करता हूँ ऐसी यजमानकी उक्ति है। समास हो, इससे क्या हुआ, इसपर कहते हैं—"समस्तत्वाच" इत्यादि। वीप्सा—आवृत्ति, उसका अभाव होनेसे दो पञ्चकका ग्रहण न होनेके कारण पच्चीस संख्याकी प्रतीति सिद्ध नहीं होती ऐसा अर्थ है। जनपञ्चक एक और पञ्चकोंका पञ्चक यह दूसरा, इस प्रकार दो पञ्चकका 'पञ्च पञ्चजनाः' इसमें ग्रहण नहीं होता, ऐसा अक्षरार्थ है। और 'पञ्चजनाः' यह समस्त न होनेपर भी दो पञ्चशब्दोंसे उक्त दो पञ्चत्वोंका परस्पर अन्वय है अथवा उनका जनपदार्थसे अन्वय है अथवा

भाष्य

पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्चेति । न च पञ्चसंख्यायाया एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणम् 'पञ्च पञ्चकाः' इति, उपसर्जनस्य विशेषणेनाऽसंयोगात् । नन्वा पन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते । यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिः पूलाः प्रतीयन्ते, तद्वत् । नेति ब्रूमः—युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्

भाष्यका अनुवाद

पञ्च पञ्च (पांच पांच) इस प्रकार दो पञ्चकोंका भी ग्रहण नहीं है। और 'पञ्च पञ्चकाः' (पांच पञ्चक) इस प्रकार एक पांच संख्याका दूसरी पांच संख्याके साथ विशेषण—अन्वय नहीं होता है, क्योंकि उपसर्जनका—विशेषणका विशेषणके साथ संयोग नहीं होता। परन्तु जिसको पांच संख्याएँ प्राप्त हुई हैं वह दूसरी पांच संख्याओंसे विशिष्ट होकर पच्चीस हो जाता है, ऐसी प्रतीति होगी। जैसे कि 'पञ्च पञ्चपूल्यः०' (पांच पूलीपञ्चक) इसमें पच्चीस पूलोंकी प्रतीति होती है। हम कहते हैं कि नहीं पञ्चपूलीशब्दमें समाहार अभिप्रेत होनेसे

रत्नप्रभा

जनैः अन्वयः, अथवा पञ्चत्वविशिष्टैर्जनैः अपरस्य पञ्चत्वस्याऽन्वयः । नाऽऽद्यः इत्याह—**न च पञ्चसंख्याया इति** । विशेषणम्—अन्वयः । अनन्वये हेतुमाह—**उपसर्जनस्येति** । अप्रधानानां सर्वेषां प्रधानेन विशेष्येण एवाऽन्वयो वाच्यः, गुणानां परस्परान्वये वाक्यभेदापातात् इत्यर्थः । द्वितीये दशसंख्याप्रतीतिः स्यात् न पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः । तृतीयम् उत्थापयति—**नन्विति** । पञ्चत्वविशिष्टेषु पञ्चत्वान्तरान्वये विशेषणीभूतपञ्चत्वेऽपि पञ्चत्वान्वयात् पञ्चविंशतित्वप्रतीतिः इत्यर्थः । दृष्टान्तवैषम्येण परिहरति—**नेति ब्रूम इति** । पञ्चानां पूलानां समाहार

रत्नप्रभाका अनुवाद

पञ्चत्वविशिष्ट जनोंके साथ अन्य पञ्चत्वका अन्वय है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च पञ्चसङ्ख्यायाः" इत्यादिसे । विशेषण—अन्वय । अन्वय न होनेमें कारण कहते हैं—"उपसर्जनस्य" इत्यादिसे । सब अप्रधानोंका—विशेषणोंका प्रधानभूत विशेष्यके साथ ही अन्वय होता है, गुणोंका परस्पर अन्वय मानें तो वाक्यभेद हो जायगा, ऐसा अर्थ है । दूसरे पक्षमें तो दस संख्याकी प्रतीति हो सकती है पच्चीसकी नहीं । तीसरा पक्ष उठाते हैं—"ननु" इत्यादिसे । पंचत्वविशिष्ट जनके साथ दूसरे पंचत्वका अन्वय होनेसे विशेषणीभूत पंचत्वमें दूसरे पंचत्वका अन्वय होनेके कारण पच्चीस संख्याकी प्रतीति होती है, ऐसा अर्थ है । दृष्टान्तवैषम्य दिखलाकर उक्त शंकाका निराकरण करते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे । 'पञ्चानां

भाष्य

कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पञ्चपूल्य इति विशेषणम्। इह तु पञ्चजना इत्यादित एव भेदोपादानात् कतीत्यसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना इति विशेषणं भवेत्। भवदपीदं विशेषणं पञ्चसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। तस्मात् पञ्च पञ्चजना इति न पञ्चविंश-

भाष्यका अनुवाद

कितनी पञ्चपूली हैं इस प्रकार भेदकी आकांक्षा होनेपर 'पञ्च पञ्चपूल्यः' (पांच पूलीपञ्चक) ऐसा विशेषण युक्त है। परन्तु यहां तो 'पञ्चजनाः' (पांच जन) ऐसा आरम्भसे ही भेदका ग्रहण है, इसलिए 'कितने' इस प्रकार भेदकी आकांक्षा न होनेके कारण 'पञ्च पञ्चजनाः०' (पांच पंचजन) इस प्रकार पञ्चजनका पञ्चत्व विशेषण नहीं हो सकता और विशेषण हो भी तो केवल 'पञ्च' (पांच) संख्याका ही हो सकता है और उसमें दोष कहा है। इसलिए 'पञ्च पञ्चजनाः' (पांच पंचजन) इससे पच्चीस तत्त्व इष्ट नहीं हैं।

रत्नप्रभा

इत्यत्र "संख्यापूर्वो द्विगुः" (पा० सू० २।१।५२) इति समासो विहितः। ततो "द्विगोः" (पा० सू० ४।१।२१) इति सूत्रेण ङीपो विधानात् समाहार-प्रतीतौ समाहाराः कति इत्याकाङ्क्षायां सत्यां पञ्च इति पदान्तरान्वयो युक्तः, पञ्चजना इत्यत्र तु ङीबन्तत्वाभावेन समाहारस्याऽप्रतीतेः जनानां चाऽऽदित एव पञ्चत्वोपादानात् संख्याकाङ्क्षाया असत्त्वात् पञ्च इति पदान्तरं नाऽन्वेति, आका-ङ्क्षाधीनत्वादन्वयस्य इत्यर्थः। भेदः—विशेषणम्। ननु जनानां निराकाङ्क्षत्वेऽपि तद्विशेषणीभूतपञ्चत्वानि कति इत्याकाङ्क्षायां पञ्चत्वान्तरं विशेषणं भवतु इत्या-शङ्कते—**भवदपीति**। न उपसर्जनस्य उपसर्जनान्तरेणाऽन्वयः, किन्तु प्रधानेन एवेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूलानां समाहारः पञ्चपूल्यः' यहाँपर 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इस सूत्रसे समासका विधान है। बाद 'द्विगोः' इस सूत्रसे 'ङीप्' (ईकार) का विधान होनेसे समाहारकी प्रतीति होनेपर समाहार कितने हैं? इस आकांक्षामें 'पञ्च' इस प्रकार दूसरे पदका अन्वय होना युक्त है, परन्तु 'पञ्चजनाः' इसमें अन्तमें 'ङीप्' न होनेसे समाहारकी प्रतीति न होनेके कारण और जनमें पहले ही पञ्चत्वका ग्रहण करनेके कारण संख्याकी आकांक्षा न होनेसे 'पञ्च' इस दूसरे पदका अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्वय आकांक्षाके अधीन है। भेद—विशेषण। परन्तु जनोंके लिए आकांक्षा न होनेपर भी जनविशेषणीभूत पञ्चत्व कितने हैं, ऐसी आकांक्षामें अन्य पञ्चत्व विशेषण हो, ऐसी शंका करते हैं—"भवदपि" इत्यादिसे। एक विशेषणका अन्य विशेषणके साथ अन्वय नहीं हो सकता है, किन्तु प्रधानके साथ ही होता है, इस न्यायके

भाष्य

तितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यायाः । आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः, 'यस्मिन्' इति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनाऽनुकर्षणात् । आत्मा च चेतनः पुरुषः, स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाऽऽधारत्वमाधेयत्वं च युज्येत। अर्थान्तरपरिग्रहे वा तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत। तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्याऽपि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं

भाष्यका अनुवाद

और संख्याके आधिक्यसे भी पच्चीस तत्त्व अभिप्रेत नहीं हैं, क्योंकि आत्मा और आकाशको लेकर संख्या पच्चीससे अधिक हो जाती है । यहाँ प्रतिष्ठाके आधाररूपसे आत्माका निर्देश किया गया है, क्योंकि 'यस्मिन्' (जिसमें) इस सप्तम्यन्त 'यत्' पदसे 'तमेव मन्य आत्मानम्' (उसीको मैं आत्मा मानता हूँ) इस श्रुतिमें पठित आत्माका अनुकर्षण होता है । आत्मा चेतन पुरुष है और वह पच्चीस तत्त्वोंमें अन्तर्गत ही है, इसलिए वही आधार और आधेय हो, यह युक्त नहीं है । अन्य अर्थका ग्रहण करो, तो सांख्यसिद्धान्तसे विरुद्ध तत्त्वसंख्यामें अधिकता आ जायगी । इसी प्रकार आकाश जो पच्चीस तत्त्वोंके अन्तर्गत है, उसका

रत्नप्रभा

न्यायविरोधादयुक्तम् इति परिहरति—तत्र चेति । एवं नानाभावादिति व्याख्याय अतिरेकाच्च इति व्याचष्टे—अतिरेकाच्चेत्यादिना । अतिरेकः—आधिक्यम् । जनशब्दितपञ्चविंशतितत्त्वेषु आत्मा अन्तर्भूतो न वा ? नाऽऽद्य इत्युक्त्वा द्वितीये दोषमाह—अर्थान्तरेति । तथाऽऽकाशं विकल्प्य दूषयति—तथेति । उक्तो दोषः—संख्याधिक्यम् । पञ्चविंशतिजना आत्माकाशौ च इति सप्तविंशतिसंख्या स्यादित्यर्थः । न च सत्त्वरजस्तमसां पृथग्गणनया सा इष्टेति वाच्यम्, आकाशस्य पृथगुक्तिवैय-

रत्नप्रभाका अनुवाद

साथ विरोध होनेसे यह कथन अयुक्त है, ऐसा परिहार करते हैं—"तत्र च" इत्यादिसे । इस प्रकार सूत्रस्थ 'नानाभावात्' पदका व्याख्यान करके 'अतिरेकाच्च' का व्याख्यान करते हैं—"अतिरेकाच्च" इत्यादिसे । अतिरेक-अधिकता । जनशब्दसे कथित पच्चीस तत्त्वोंमें आत्मा अन्तर्भूत है या नहीं ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, ऐसा कहकर द्वितीय पक्षमें दोष दिखलाते हैं—"अर्थान्तर" इत्यादिसे । उसी प्रकार आकाशमें भी विकल्प कहकर दोष दिखलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे । उक्त दोष—संख्याकी अधिकता । पच्चीस तत्त्व, आत्मा और आकाश सब मिलकर सत्ताईस हो जायंगे, ऐसा अर्थ है । सत्त्व, रज और तमकी पृथक् गिनतीसे सत्ताईस संख्या अभिमत है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशका पृथक् कथन व्यर्थ

भाष्य

न्याय्यम्। अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम्। कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रतीयेत, जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात्, अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः। कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति उच्यते—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २।१।५०) इति विशेषस्मरणात् संज्ञायामेव पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समासः, ततश्च रूढत्वाभिप्राये-

भाष्यका अनुवाद

'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' (और आकाश प्रतिष्ठित है) इस प्रकार पृथग् ग्रहण उचित नहीं है और अन्य अर्थका ग्रहण करो तो दोष कहा ही है। और संख्यामात्रका श्रवण होनेपर श्रुतिमें अप्रतिपादित पच्चीस तत्त्वोंका सङ्ग्रह किस प्रकार प्रतीत होगा? क्योंकि जनशब्द तत्त्वोंमें रूढ नहीं है और अन्य अर्थका ग्रहण करनेसे भी संख्या उपपन्न होती है। तब 'पञ्च पञ्चजनाः' (पांच पंचजन) यह किस प्रकार है? कहते हैं—'दिक्संख्ये०' (दिशा और संख्यावाचक शब्दोंका संज्ञाके अर्थमें सुबन्त उत्तरपदके साथ समास होता है) ऐसा विशेष सूत्र है, इसलिए पञ्चशब्दका जनशब्दके साथसमास है। इसलिए रूढरूपके अभिप्रायसे ही

रत्नप्रभा

र्थात्, यस्मिन्निति आत्मनि तत्त्वानां प्रतिष्ठोक्तिविरोधात्, तव मते स्वतन्त्रप्रधानस्यैव आधारत्वात्, "नेह नानास्ति" इति वाक्यशेषविरोधाच्च तव सत्यद्वैतवादित्वात्। किञ्च, पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतौ अपि न सांख्यतत्त्वानां ग्रहणमित्याह—**कथञ्चेति**। किं जनशब्दात् तत्त्वग्रहः, उत संख्यया इति कथंशब्दार्थः। नाऽऽद्य इत्याह—**जनेति**। न द्वितीयः इत्याह—**अर्थान्तरेति**। किं तत् अर्थान्तरं यदर्थकमिदं वाक्यमिति पृच्छति—**कथमिति**। पञ्च च ते जनाश्चेति कर्मधारयादिसमा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो जायगा और 'यस्मिन्' इस प्रकार आत्माको तत्त्वोंका आश्रय कहना विरुद्ध हो जायगा क्योंकि तुम्हारे (सांख्यके) मतमें स्वतंत्र प्रधान ही आधार है और 'नेह नानास्ति०' इस वाक्यशेषसे भी विरोध होगा, क्योंकि तुम्हारे मतमें द्वैत सत्य है। और पच्चीस संख्याकी प्रतीति होनेपर भी सांख्यतत्त्वोंका ग्रहण नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"कथं च" इत्यादिसे। तत्त्वोंका ग्रहण जनशब्दसे होता है या संख्यासे यह 'कथं' शब्दका अर्थ है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं, ऐसा कहते हैं—"जन" इत्यादिसे। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अर्थान्तर" इत्यादिसे। वह दूसरा अर्थ कौन है, जिसका यह वाक्य प्रतिपादन करता है, ऐसा पूछते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। 'पञ्च च ते जनाश्च' इस प्रकार कर्मधारय आदि अन्य

भाष्य

णैव केचित् पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते, न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण, ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते । पञ्चजना नाम ये केचित् ते च पञ्चैवेत्यर्थः । सप्तर्षयः सप्तेति यथा ॥ ११ ॥

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति, तदुच्यते—

भाष्यका अनुवाद

कुछ पञ्चजन संज्ञावालोंकी विवक्षा है, सांख्यतत्त्वोंके अभिप्रायसे नहीं है। वे कितने हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर फिर पञ्चशब्दका प्रयोग किया गया है। जैसे सात सप्तर्षि हैं वैसे पञ्चजनसंज्ञक जो कोई हैं, वे पांच ही हैं, ऐसा अर्थ है ॥ ११ ॥

वे पञ्चजन कौन हैं, यह कहते हैं—

रत्नप्रभा

सान्तरात् संज्ञा-समासस्याऽऽप्तोक्त्या बलवत्त्वं तावदाह—उच्यत इति । दिग्वाचिनः संख्यावाचिनश्च शब्दाः संज्ञायां गम्यमानायां सुबन्तेन उत्तरपदेन समस्यन्ते, यथा दक्षिणाग्निः सप्तर्षय इत्यादि । अयं च समासः तत्पुरुषभेदः ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

समासोंसे संज्ञामें समास आप्तोक्तिके कारण बलवत्तर है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे । दिग्वाचक और संख्यावाचक शब्द संज्ञा गम्यमान होनेपर उत्तर सुबन्तके साथ समस्त होते हैं, जैसे 'दक्षिणाग्निः' 'सप्तर्षयः' इत्यादिमें है । यह समास तत्पुरुषका भेद है ॥११॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—प्राणादयः,—वाक्यशेषात् ।

पदार्थोक्ति—प्राणादयः—प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनांसि [पञ्चजनशब्देनोच्यन्ते, कस्माद्] वाक्यशेषात्—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः' इत्यादिवाक्यशेषस्थत्वात् ।

भाषार्थ—पूर्वोक्त श्रुतिमें पञ्चजनशब्दसे प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन कहे गये हैं, क्योंकि 'प्राणस्य प्राण०' (प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु) इत्यादि वाक्यशेषमें वे ही हैं ।

भाष्य

'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति। तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात् पञ्चजना विवक्ष्यन्ते। कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः? समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेषवशात्

भाष्यका अनुवाद

'यस्मिन् पञ्च०' (जिसमें पांच पञ्चजन हैं) इससे अग्रिम मंत्रमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए 'प्राणस्य प्राणमुत०' (जो प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र, अन्नके अन्न और मनके मनको जानते हैं, वे ब्रह्मज्ञ हैं) इस प्रकार पांच प्राण आदिका निर्देश किया है। यहां वाक्यशेषमें पठित वे प्राण आदि संनिहित होनेके कारण पञ्चजनशब्दसे विवक्षित हैं। प्राण आदिके लिए जनशब्दका प्रयोग किस प्रकार है? तत्त्वोंके लिए जनशब्दका प्रयोग किस प्रकार है? रूढिका उलंघन दोनों पक्षोंमें समान होनेपर भी वाक्यशेषके बलसे

रत्नप्रभा

पञ्चजनशब्दस्य संज्ञात्वम् उक्त्वा संज्ञिकथनार्थं सूत्रं गृह्णाति—**के पुनस्ते इति**। श्रुतौ उतशब्दः—अप्यर्थः। ये प्राणादिप्रेरकं तत्साक्षिणम् आत्मानं विदुः, ते ब्रह्मविद इत्यर्थः। पञ्चजनशब्दस्य प्राणादिषु कया वृत्त्या प्रयोग इति शङ्कते—**कथं पुनरिति**। यथा तव तत्त्वेषु जनशब्दस्य लक्षणया प्रयोगः, तथा मम प्राणादिषु पञ्चजनशब्दस्य लक्षणया इत्याह—**तत्त्वेष्विति**। तर्हि रूढ्यतिक्रमसाम्यात् तत्त्वानि एव ग्राह्याणीत्यत आह—**समाने त्विति**। सन्निहितसजातीयानपेक्षश्रुतिस्था एव ग्राह्याः, न तु व्यवहितविजातीयसापेक्षस्मृतिस्था इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'पञ्चजन' शब्द संज्ञा है, ऐसा कहकर संज्ञी कहनेके लिए सूत्र कहते हैं—"के पुनस्ते" इत्यादिसे। श्रुतिस्थ 'उत शब्द अप्यर्थक' है। जो प्राण आदिके प्रेरक एवं उनके साक्षी आत्माको जानते हैं, वे ब्रह्मवेत्ता हैं, ऐसा अर्थ है। परन्तु 'पञ्चजन' शब्दका प्राण आदिमें किस वृत्तिसे प्रयोग है, ऐसी शंका करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। जैसे तुम्हारे (सांख्यके) मतमें तत्त्वोंमें लक्षणासे 'जन' शब्दका प्रयोग है, वैसे ही हमारे मतमें प्राण आदिमें लक्षणासे 'पञ्चजन' शब्दका प्रयोग है, ऐसा कहते हैं—"तत्त्वेषु" इत्यादिसे। तब रूढिका अतिक्रम समान होनेसे तत्त्वोंका ही ग्रहण करना युक्त है, इसपर कहते हैं—"समाने तु" इत्यादि। समीपस्थ, सजातीय एवं मूलापेक्षारहित श्रुतिमें कथितका ही ग्रहण करना युक्त है, दूरस्थ,

भाष्य

प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति, जनसंबन्धाच्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति। जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इत्यत्र; 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा० ७।१५।१) इत्यादि च ब्राह्मणम्। समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम्। कथं पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याऽऽश्रयितुम्।

भाष्यका अनुवाद

प्राण आदिका ही ग्रहण होता है और मनुष्यके साथ संबन्ध होनेसे भी प्राण आदि जनशब्दसे कहे जाते हैं। और 'ते वा एते पञ्च०' (वे ये पांच ब्रह्मपुरुष हैं) इसमें जनवाचक पुरुषशब्द प्राणके लिए कहा गया है। उसी प्रकार 'प्राणो ह पिता०' (प्राण पिता है, प्राण माता है) इत्यादि ब्राह्मण है। और समासके बलसे समुदायको रूढ माननेमें कोई विरोध भी नहीं है। परन्तु प्रथम प्रयोगके

रत्नप्रभा

लक्षणाबीजं सम्बन्धमाह—**जनेति**। जनः पञ्चजन इति पर्यायः। पुरुषपित्रादिशब्दवच्च पञ्चजनशब्दस्य प्राणादिलक्षकत्वं युक्तमित्याह—**जनवचनश्चेति**। ननु जायन्ते इति जनाः—महादादयः, जनकत्वात् जनः—प्रधानम् इति योगसम्भवे किमिति रूढिमाश्रित्य लक्षणाप्रयास इत्यत आह—**समासेति**। यथा अश्वकर्णशब्दस्य वर्णसमुदायस्य वृक्षे रूढिः, एवं पञ्चजनशब्दस्य रूढिरेव, न अवयवशक्त्यात्मको योग इत्यर्थः। पूर्वकालिकप्रयोगाभावात् न रूढिरित्याक्षिपति—**कथमिति**। "स्युः पुमांसः पञ्चजनाः" इति अमरकोशादौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

विजातीय एवं मूलापेक्ष स्मृतिमें कथितका ग्रहण करना युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। लक्षणामें बीजभूत संबन्धको कहते हैं—"जन" इत्यादिसे। भाष्यगत जन और पञ्चजनशब्द एक अर्थके बोधक हैं। उक्त श्रुतियोंमें पुरुष, पिता आदि शब्दोंके समान पञ्चजनशब्दसे भी प्राण आदिका लक्षित होना युक्त है, ऐसा कहते हैं—"जनवचनश्च" इत्यादिसे। परन्तु जो उत्पन्न होते हैं, वे जन—महदादि हैं और जो जनक उत्पन्न करता है, वह जन–प्रधान है, इस प्रकार योगका संभव होनेपर तो रूढिका आश्रय करके लक्षणाका प्रयास क्यों किया जाय? इसपर कहते हैं—"समास" इत्यादि। जैसे अक्षरसमुदायरूप 'अश्वकर्ण' शब्द वृक्षमें रूढ है, वैसे ही पञ्चजनशब्दको भी रूढ ही मानना चाहिए, अवयवशक्तिरूप योगका ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। परन्तु पहले कहीं प्रयोग न होनेसे रूढिका ग्रहण नहीं हो सकता है, ऐसा आक्षेप करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इस प्रकार अमरकोशमें

भाष्य

शक्या उद्भिदादिवदित्याह—प्रसिद्धार्थसंनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्य मानः समभिव्याहारात् तद्विषयो नियम्यते, यथा 'उद्भिदा यजेत' 'यूपं

भाष्यका अनुवाद

अभावमें रूढिका आश्रय किस प्रकार किया जा सकता है ? 'उद्भित्' आदिके समान रूढि हो सकती है, ऐसा कहते हैं। प्रसिद्धार्थक पदके संनिधानमें अप्रसिद्धार्थक शब्दका प्रयोग हो, तो समभिव्याहारके बलसे अप्रसिद्धार्थक पद उससे अन्वयी अर्थपरक माना जाता है, ऐसा नियम है। जैसे कि 'उद्भिदा०'

रत्नप्रभा

प्रयोगोऽस्त्येव, तदभावमङ्गीकृत्याऽपि आह—**शक्येति**। जनसम्बन्धात् च इति पूर्वभाष्ये नरेषु पञ्चजनशब्दस्य रूढिमाश्रित्य प्राणादिषु लक्षणा उक्ता, इह तु प्रौढिवादेन प्राणादिषु रूढिः उच्यत इति मन्तव्यम्। संगृहीतं विवृणोति—**प्रसिद्धेत्यादिना**। "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इत्यत्रोद्भित्पदं विधेयगुणार्थकं कर्मनामधेयं वा इति संशये खनित्रादौ उद्भित्पदस्य प्रसिद्धेः यागनामत्वे प्रसिद्धि-विरोधात् ज्योतिष्टोमे गुणविधिरिति प्राप्ते राद्धान्तः। यजेत—यागेन इष्टं भावयेत् इत्यर्थः। ततश्च उद्भिदेत्यप्रसिद्धस्य तृतीयान्तस्य यागेन इत्यनेन प्रसिद्धार्थकेन सामानाधिकरण्येन तन्नामत्वं निश्चीयते, उद्भिनत्ति पशून् साधयतीति प्रसिद्धेः अविरोधात् अप्रकृतज्योतिष्टोमे गुणविध्ययोगात्, तद्विधौ च उद्भिदाख्यगुणवता यागेन इति मत्वर्थसम्बन्धलक्षणाप्रसङ्गाच्च इति कर्मनामैव उद्भित्पदम्। तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रयोग है, तो भी प्रयोगाभावका अंगीकार करके कहते हैं—"शक्या" इत्यादिसे। 'जन-संबन्धाच्च' इस पूर्वभाष्यमें मनुष्योंमें 'पञ्चजन' शब्दकी रूढि मानकर प्राण आदिमें लक्षणा कही गई है, यहां तो जबर्दस्ती प्राण आदिमें रूढि कही जाती है, ऐसा समझना चाहिए। संगृहीत अर्थका विवरण करते हैं—"प्रसिद्ध" इत्यादिसे। 'उद्भिदा यजेत०' (पशुओंको चाहने-वाला उद्भित् नामक याग करे) इसमें 'उद्भित्' पद विधेय गुणका बोधक है अथवा कर्मका नाम है ? ऐसा संशय होनेपर खनित्र (खनती) आदिमें उद्भित्पदकी प्रसिद्धि और यागमें अप्रसिद्धि होनेसे ज्योतिष्टोममें ही गुणका विधान करता है (स्वतन्त्र याग नहीं है) ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहा गया है—'यजेत' का अर्थ है—'यागेनेष्टं०' (यागसे इष्टकी भावना करे), इसलिए 'उद्भिदा' इस अप्रसिद्ध तृतीयान्त पदका प्रसिद्धार्थक 'यागेन' इस पदसे सामानाधिकरण्य होनेसे 'उद्भित्' यह यागका नाम है, ऐसा निश्चय होता है, 'उद्भिनत्ति' पशुओंका संपादन कराता है अर्थात् यजमानको पशुओंकी प्राप्ति कराता है, इस व्युत्पत्तिसे 'उद्भित्' पदकी यागमें प्रसिद्धि भी है, इसलिए प्रसिद्धिविरोध न होनेसे अप्रकृत ज्योतिष्टोममें गुणविधि नहीं हो सकती, यदि गुणविधि मानें तो 'उद्भित् रूप गुणसे युक्त यागसे'

भाष्य

छिनत्ति' 'वेदिं करोति' इति, तथाऽयमपि पञ्चजनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञ्याकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते। कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः। अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः क्वचिच्च 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८।५३।७) इति प्रजापरः

भाष्यका अनुवाद

(उद्भित् नामक याग करे) 'यूपं०' (यूपको बनाता है) और 'वेदिं०' (वेदी बनाता है) इत्यादिमें होता है, उसी प्रकार यह 'पञ्चजन' शब्द भी समासके बलसे संज्ञा बनकर संज्ञीकी आकांक्षा करता हुआ वाक्यशेष और समभिव्याहारके बलसे प्राण आदिमें प्रवृत्त होगा। कितने ही लोगोंने तो देव, पितृ, गन्धर्व, असुर और राक्षस ये पांच पञ्चजन हैं, ऐसा व्याख्यान किया है। उसी प्रकार दूसरोंने चार वर्ण और पांचवें निषादका ग्रहण किया है। और कहींपर

रत्नप्रभा

छिनत्तीति प्रसिद्धार्थच्छेदनयोग्यार्थकशब्दसमभिव्याहारात् दारुविशेषो यूपशब्दार्थः। करोतीति समभिव्याहाराद् वेदिशब्दार्थः संस्कारयोग्यस्थण्डिलविशेष इति गम्यते, तथा प्रसिद्धार्थकप्राणादिशब्दसमभिव्याहारात् पञ्चजनशब्दः प्राणाद्यर्थक इति निश्चीयते इत्यर्थः। एकदेशिनां मतद्वयमाह—**कैश्चिदित्यादिना**। शूद्रयां ब्राह्मणाद् जातः निषादः। श्रुत्या पञ्चजनशब्दस्य अर्थान्तरमाह—**क्वचिच्चेति**। पाञ्चजन्यया प्रजया विशति इति विट् तया विशा पुरुषरूपया इन्द्रस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार मत्वर्थ-संबन्धमें लक्षणा माननी पड़ेगी, इसलिए 'उद्भित्' पद कर्मका नाम ही है। उसी प्रकार प्रतीत होता है कि 'यूपं छिनत्ति'में प्रसिद्धार्थभूत छेदनयोग्य अर्थका प्रतिपादन करनेवाले 'छिनत्ति' पदके समभिव्याहारसे 'यूप' शब्दका अर्थ दारुविशेष (एक प्रकारकी लकड़ी) है एवं 'करोति' पदके समभिव्याहारसे 'वेदि' शब्दका अर्थ संस्कारके योग्य स्थण्डिलविशेष है, इसी प्रकार प्रसिद्ध अर्थवाले प्राण आदि शब्दोंके समभिव्याहारसे निश्चय होता है कि 'पञ्चजन' शब्द प्राण आदिका बोधक है। एकदेशियोंके दो मत कहते हैं—"कैश्चिद्" इत्यादिसे। शूद्रस्त्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न निषाद है। श्रुतिसे 'पञ्चजन' शब्दका दूसरा भी अर्थ होता है, ऐसा कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे। पाञ्चजन्य-प्रजारूपसे जो प्रवेश करता है, वह विट्

(१) एक साथ कथन।

(२) यज्ञके लिए पवित्र किया हुआ स्थान।

भाष्य

प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः। आचार्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद ॥ १२ ॥

भवेयुस्तावत् प्राणादयः पञ्चजना माध्यन्दिनानाम्, येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति। काण्वानां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नाऽऽमनन्तीति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

'यत्पाञ्चजन्यया०' इस प्रकार पञ्चजनशब्द प्रजाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है। उसका ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है। आचार्यने तो पच्चीस तत्त्वोंकी यहां प्रतीति नहीं होती इस आशयसे 'प्राणादयो०' ऐसा कहा है ॥१२॥

प्राण आदिमें अन्नका पाठ करनेवाले माध्यन्दिनशाखावालोंके मतमें प्राण आदि पञ्चजन हो सकते हैं, परन्तु काण्व जो प्राण आदिमें अन्नका पाठ नहीं करते हैं, उनके मतमें प्राण आदि पञ्चजन किस प्रकार हो सकते हैं? इसके लिए उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

आह्वानार्थं घोषाः सृष्टा इति यत् तद्युक्तम्, घोषातिरेकेण इन्द्राह्वानायोगादिति श्रुत्यनुसारेण प्रजामात्रग्रहेऽपि न विरोध इत्यर्थः। सूत्रविरोधमाशङ्क्याऽऽह—**आचार्यस्त्विति**। अतः सांख्यतत्त्वातिरिक्तयत्किञ्चित्परतया पञ्चजनशब्दव्याख्यायाम् अविरोध इति भावः ॥१२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहलाता है, उस पुरुषरूप प्रजाने इन्द्रका आह्वान करनेके लिए शब्दोंकी सृष्टि की यह बात उपपन्न ही है, क्योंकि शब्दोंके बिना इन्द्रका आह्वान नहीं हो सकता, इस प्रकार श्रुतिके अनुसार 'पञ्चजन' शब्दसे प्रजामात्रका ग्रहण करनेपर भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा अर्थ है। सूत्रविरोधकी शंका करके कहते हैं—"आचार्यस्तु" इत्यादि। इसलिए 'पञ्चजन' शब्दको सांख्यके तत्त्वोंसे अतिरिक्त किसी अर्थपरक माननेपर भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

पदच्छेद—ज्योतिषा, एकेषाम्, असति, अन्ने ।

पदार्थोक्ति—एकेषाम्—काण्वानाम्, अन्ने असति, ज्योतिषा—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इत्यादिपूर्ववाक्यस्थज्योतिषा [पञ्चत्वं पूरणीयम्] ।

भावार्थ—काण्वोंके पाठमें पूर्वोक्त प्राण आदि पांचमें अन्न न होनेके कारण 'तद्देवा०' इस पूर्ववाक्यस्थ ज्योतिसे पञ्चसङ्ख्याकी पूर्ति करनी चाहिए ।

भाष्य

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत । तेऽपि हि 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद् गृह्यते केषांचिन्नेति ? अपेक्षाभेदादित्याह । माध्यन्दिनानां हि समान-

भाष्यका अनुवाद

काण्वोंके पाठमें अन्नके न होनेपर भी ज्योतिसे उनकी पांच संख्याकी पूर्ति होती है, क्योंकि वे भी 'यस्मिन् पञ्च०' (जिसमें पांच पञ्चजन) इत्यादिसे पूर्व मंत्रमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए ही 'तद्देवा ज्योतिषां०' (ज्योतियोंकी ज्योतिरूपसे उसकी देवता उपासना करते हैं) इस प्रकार ज्योतिका अध्ययन करते हैं । परन्तु दोनों ही शाखावालोंके पाठमें समान रीतिसे पठित इस ज्योतिका एक ही मंत्रमें आई हुई पांच संख्यासे कुछ लोग ग्रहण करते हैं और कुछ लोग ग्रहण नहीं करते , इसमें क्या कारण है ? अपेक्षाका-

रत्नप्रभा

शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं गृह्णाति—**भवेयुरिति** । ज्योतिषां सूर्यादीनां ज्योतिः तद् ब्रह्म देवा उपासत इत्यर्थः । ननु इदं षष्ठ्यन्तज्योतिःपदोक्तं सूर्यादिकं ज्योतिः शाखाद्वयेऽपि अस्ति, तत् काण्वानां पञ्चत्वपूरणाय गृह्यते नाऽन्येषामिति विकल्पो न युक्त इति शङ्कते—**कथं पुनरिति** । आकाङ्क्षाविशेषाद् विकल्पो युक्त इत्याह

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंकाके उत्तररूपसे सूत्रका ग्रहण करते हैं—"भवेयुः" इत्यादिसे । सूर्य आदि ज्योतियोंके ज्योतिरूप ब्रह्मकी उपासना देवता करते हैं, ऐसा 'तद्देवा०' इस श्रुतिका अर्थ है । परन्तु षष्ठ्यन्त ज्योतिःपदसे कथित यह सूर्य आदि ज्योति दोनोंकी—काण्व और माध्यन्दिनोंकी—शाखामें है, तो काण्व पञ्चत्वकी पूर्तिके लिए उसका ग्रहण करते हैं और माध्यन्दिन ग्रहण नहीं करते हैं, ऐसा विकल्प युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे । आकांक्षा

भाष्य

मन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नाऽस्मिन् मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति। तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा। अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे, यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात् षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे, तद्वत्। तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित् प्रधानविषयाऽस्ति, स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

आकांक्षाका भेद इसमें कारण है, ऐसा कहते हैं। एक ही मंत्रमें पठित प्राण आदिका माध्यन्दिनोंको लाभ होता है, इसलिए दूसरे मंत्रमें पठित ज्योतिकी उन्हें आकांक्षा नहीं रहती है। और एक ही मंत्रमें प्राण आदि पञ्चजनोंका लाभ न होनेसे काण्वोंको उसकी आकांक्षा रहती है। अपेक्षाके भेदसे समान मंत्रमें ही पठित ज्योतिका ग्रहण और अग्रहण होता है। जैसे एक ही अतिरात्र सत्रमें वचनभेदसे कहीं षोडशी (पात्र) का ग्रहण होता है और कहीं नहीं होता है। इसलिए इस प्रकार प्रधानमें कुछ भी श्रुतिप्रसिद्धि नहीं है। स्मृतिप्रसिद्धि और न्यायप्रसिद्धिका तो आगे परिहार करेंगे ॥१३॥

रत्नप्रभा

सिद्धान्ती—अपेक्षेति। यथाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यभेदाद् विकल्पः, तद्वच्छाखाभेदेन अन्नपाठापाठाभ्यां ज्योतिषो विकल्प इत्यर्थः। ननु क्रियायां विकल्पो युक्तः, न वस्तुनि इति चेत्; सत्यम्, अत्राऽपि शाखाभेदेन सान्ना ज्योतिःसहिता वा प्राणादयो यत्र प्रतिष्ठिताः, तत् मनसा अनुद्रष्टव्यमिति ध्यानक्रियायां विकल्पोपपत्तिरिति अनवद्यम्। उक्तं प्रधानस्याऽशब्दत्वमुपसंहरति—तदेवमिति। तथापि स्मृतियुक्तिभ्यां प्रधानमेव जगत्कारणम् इत्यत आह—स्मृतीति ॥१३॥ (३) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेषसे विकल्प युक्त है, ऐसा सिद्धान्ती कहते हैं—"अपेक्षा" इत्यादिसे। जैसे अतिरात्र नामक यागमें षोडशी (यज्ञपात्र) का ग्रहण करता है और षोडशीका ग्रहण नहीं करता है, ऐसा वाक्यभेदसे विकल्प है, उसी प्रकार शाखाभेदसे अन्नके पाठ और पाठाभावसे ज्योतिका विकल्प होता है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि क्रियामें विकल्प होना युक्त है, वस्तुमें विकल्प होना ठीक नहीं है, तो यह बात (क्रियामें ही विकल्प होना युक्त है) सत्य है। परन्तु यहां भी कुछ दोष नहीं है, क्योंकि शाखाभेदसे अन्नसहित अथवा ज्योतिःसहित प्राण आदि जिसमें प्रतिष्ठित हैं, उसका मनसे ध्यान करना चाहिए, इस प्रकार ध्यानक्रियामें ही विकल्प है। प्रधान अशब्द है, ऐसा जो प्रतिपादन किया है, उसका उपसंहार करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। तो भी स्मृति और युक्तिसे प्रधान ही जगत्का कारण है, इसपर कहते हैं—"स्मृति" इत्यादि ॥ १३ ॥

[४ कारणत्वाधिकरण सू० १४—१५]

समन्वयो जगद्योनौ न युक्तो युज्यतेऽथवा ।
न युक्तो वेदवाक्येषु परस्पराविरोधतः ॥ १ ॥
सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते ।
*अव्याकृतमसत्प्रोक्तं युक्तोऽसौ कारणे ततः** ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जगत्‌के कारणमें वेदान्तोंका समन्वय युक्त है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—वेदान्तवाक्योंमें परस्पर विरोध रहनेके कारण समन्वय नहीं हो सकता ।

सिद्धान्त—सृष्टिके क्रममें विवाद रहनेपर भी स्रष्टामें विवाद नहीं है, 'असत्' शब्दका अर्थ अव्याकृत है, इसलिए जगत्कारणमें वेदान्तवाक्योंका समन्वय युक्त है ।

---

* तात्पर्य यह है कि साढे तीन पादोंसे जगत्कारणमें वेदान्तोंका जो समन्वय कहा गया है, उसपर आक्षेप करके समाधान करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है ।

पूर्वपक्षी कहता है कि जगत्कारणमें वेदान्तोंका समन्वय युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तवाक्योंमें बहुधा विरोधकी प्रतीति होनेसे उनका प्रामाण्य ही दुःसम्पाद है । जैसे कि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार तैत्तिरीयक श्रुतिमें आकाश आदिका स्रष्टा कहा गया है । छान्दोग्यमें "तत्तेजोऽसृजत" (उसने तेजकी सृष्टि की) इस प्रकार तेज आदिका स्रष्टा कहा गया है । ऐतरेयमें "स इमाँल्लोकानसृजत" (उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया) इस प्रकार लोकोंका स्रष्टा कहा गया है । मुण्डकमें "एतस्माज्जायते प्राणः" (इससे प्राण उत्पन्न हुआ) इस प्रकार प्राण आदिका स्रष्टा कहा गया है । केवल कार्य द्वारा ही विरोध नहीं है किन्तु कारणके स्वरूपके उपन्यासमें भी विरोध है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (हे प्रिय दर्शन ! यह सारा जगत् उत्पत्तिके पूर्व सद्रूप ही था) इस छान्दोग्य श्रुतिमें सद्रूप कारण कहा गया है । तैत्तिरीयकमें 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (यह सब पहले असत् ही था) इस प्रकार असद्रूप कारण कहा गया है । ऐतरेयकमें 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (यह सब उत्पत्तिके पूर्वमें केवल आत्मरूप ही था) इस प्रकार आत्मरूप कारण कहा गया है । इससे सिद्ध हुआ कि परस्पर विरोध होनेसे वेदान्तोंका समन्वय नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि उत्पादित आकाश आदिमें और सृष्टिक्रममें भले ही विवाद हो, क्योंकि वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य आकाश आदिमें नहीं होनेसे आकाश आदिका उपन्यास अद्वितीय ब्रह्मके बोधके लिए ही है । वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यविषयभूत जगत्स्रष्टा ब्रह्ममें तो कहीं भी विरोध नहीं है । कहींपर 'सत्' शब्दसे कथित ब्रह्मका दूसरे स्थानमें सर्वजीवरूपत्व कहनेकी इच्छासे आत्मशब्दसे अभिधान है । 'असत्' शब्दसे जो अभिधान है, वह अव्याकृत कहनेकी इच्छासे है, क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत' (असत्‌से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है) इस प्रकार दूसरी श्रुतिसे अभावमें कारणत्वका निषेध किया है। इसलिए एकवाक्यताकी उपपत्ति होनेसे जगत्कारणमें वेदान्तोंका समन्वय होना युक्त है ।

कारणत्वे न चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—कारणत्वे, न, च, आकाशादिषु, यथाव्यपदिष्टोक्तेः।

पदार्थोक्ति—कारणत्वे च—ब्रह्मणः जगत्कारणत्वे तु, न—विरोधो नास्ति [कुतः] आकाशादिषु—सृज्यमानेषु आकाशादिपदार्थेषु, यथाव्यपदिष्टोक्तेः—यथाभूत ईश्वरः एकत्र कारणत्वेनोपदिष्टः, तथाभूतस्यैवाऽपरत्र कथनात्।

भाषार्थ—ब्रह्मके जगत्कारण होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सृज्यमान आकाश आदि पदार्थोंके विषयमें यादृश ईश्वर एक उपनिषद्में कारणरूपसे कहा गया है, तादृश ही अन्य उपनिषदोंमें भी कारणरूपसे कहा गया है।

भाष्य

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम्, प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानाम्, प्रतिपादितं च प्रधानस्याऽशब्दत्वम्। तत्रेदम-

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मका लक्षण कहा जा चुका है, सब वेदान्तवाक्य समानरूपसे ब्रह्मके ही बोधक हैं, यह कहा जा चुका है, एवं प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, यह भी कहा

रत्नप्रभा

कारणत्वे न चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः। पूर्वग्रन्थेन अस्य सङ्गतिं वक्तुं वृत्तमनुवदति—**प्रतिपादितमिति**। अधिकरणत्रयेण प्रधानस्य अश्रौतत्वोक्त्या जगत्कारणत्वलक्षणेन ब्रह्मण एव बुद्धिस्थता, तस्मिन्नेव बुद्धिस्थे निर्विशेषे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वय इति साधितं पूर्वसूत्रसन्दर्भेण। तत्र लक्षणसमन्वययोः असिद्धिरेव, श्रुतीनां विरोधदर्शनात् इत्याक्षेपरूपां तेन अस्य सङ्गतिमाह—**तत्रेति**। न च अविरोधचिन्ताया द्वितीयाध्याये सङ्गतिः, न

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणत्वे न········व्यपदिष्टोक्तेः। पूर्व ग्रन्थके साथ इस अधिकरणकी संगति कहनेके लिए वृत्तका अनुवाद करते हैं—"प्रतिपादितम्" इत्यादिसे। पूर्वके तीन अधिकरणों द्वारा प्रधानको अशब्द कहनेसे जगत्कारणत्वरूप लक्षणसे ब्रह्म ही बुद्धिस्थ होता है उसी बुद्धिस्थ निर्गुण ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय है, ऐसा पूर्व ग्रन्थसे सिद्ध किया गया है। उसमें लक्षण और समन्वय दोनों असिद्ध ही हैं, क्योंकि श्रुतियोंका विरोध देखनेमें आता है, इस प्रकार पूर्वग्रन्थके साथ इसकी आक्षेपसंगति कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि अविरोधका विचार तो दूसरे अध्यायका विषय है, इस अध्यायका

भाष्य

परमाशङ्क्यते—न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपादयितुं शक्यम्। कस्मात्? विगानदर्शनात्।

भाष्यका अनुवाद

जा चुका है। यहाँ पर अब दूसरी शंका होती है—ब्रह्म जगत्‌के जन्म आदिका कारण है और सब वेदान्तवाक्य समानभावसे उसीमें समन्वित हैं, ऐसा नहीं

रत्नप्रभा

अस्मिन् अध्याये इति वाच्यम्, सिद्धे समन्वये स्मृत्यादिमानान्तरविरोधनिरासस्य द्वितीयाध्यायार्थत्वात्। तत्पदवाच्यजगत्कारणवादिश्रुतीनां मिथो विरोधाद् वाच्यार्थानिश्चयेन लक्ष्ये समन्वयासिद्धौ प्राप्तायां तत्साधकाविरोधचिन्ताया अत्रैव सङ्गतत्वात्। न चैवं सृष्टिश्रुतीनामपि अविरोधोऽत्रैव चिन्तनीय इति वाच्यम्, स्वप्नवत् कल्पितसृष्टौ विरोधस्यैव अभावात्। किमर्थं तर्हि द्वितीये तच्चिन्तनम्, स्थूलबुद्धिसमाधानार्थमिति ब्रूमः। इह तु सूक्ष्मदृशां वाक्यार्थे समन्वयज्ञानाय तत्पदार्थश्रुतिविरोधः परिह्रियते। यद्यपि त्वम्पदार्थश्रुतिविरोधोऽत्र परिहर्तव्यः, तथापि प्रथमसूत्रेण बन्धमिथ्यात्वसूचनात् अविरोधः सिद्धः। प्रपञ्चस्तु स्थूलबुद्धिसमाधानप्रसङ्गेन भविष्यतीति मन्यते सूत्रकारः। अत्र जगत्कारणश्रुतयो विषयः, ताः किं ब्रह्मणि मानं न वा इति संशये अन्नज्योतिषोः संख्यादृष्टिक्रियायां

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तवाक्योंका समन्वय ब्रह्ममें सिद्ध होनेपर स्मृति आदि अन्य प्रमाणोंके विरोधका निराकरण करना दूसरे अध्यायका प्रयोजन है। तत्पदवाच्य जो जगत्‌का कारण है उसको कहनेवाली श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे वाच्यार्थका निश्चय न होनेके कारण लक्ष्यभूत ब्रह्ममें वेदान्तोंके समन्वयकी असिद्धि प्राप्त होनेपर समन्वयको सिद्ध-करनेवाले अविरोधकी चिन्ताकी यहां संगति है ही। तब सृष्टिसंबन्धी श्रुतियोंके अविरोधका-भी यहीं विचार कर लेना चाहिए, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नके समान कल्पित सृष्टिमें विरोध ही नहीं है। यदि ऐसा है, तो द्वितीयाध्यायमें उसका विचार क्यों है? हम कहते हैं कि यह तो स्थूलबुद्धियोंके समाधानके लिए है। यहां तो सूक्ष्मबुद्धियोंको ब्रह्ममें वेदान्त-वाक्योंके समन्वयका ज्ञान होनेके लिए तत्पदार्थश्रुतियोंके विरोधका परिहार किया जाता है। यद्यपि यहां त्वम्पदार्थश्रुतिके विरोधका परिहार करना उचित था, तो भी प्रथम सूत्रसे बन्धका मिथ्यात्व सूचित होनेसे अविरोध सिद्ध ही है। इसका विस्तार तो स्थूलबुद्धियोंके समाधानके लिए है, ऐसा सूत्रकार मानते हैं। यहां जगत्‌के कारणका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां विषय हैं। वे ब्रह्ममें प्रमाण हैं या नहीं ऐसा संशय होनेपर संख्याको प्रधान रखकर क्रियमाण ध्यानक्रियामें अन्न और

भाष्य

प्रतिवेदान्तं ह्यन्याऽन्या सृष्टिरुपलभ्यते, क्रमादिवैचित्र्यात् । तथाहि—क्वचित् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते । क्वचित् तेजआदिका—'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति, क्वचित् प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४) इति, क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो

भाष्यका अनुवाद

माना जा सकता । किससे ? विप्रतिपत्तिदर्शनसे । क्योंकि प्रत्येक उपनिषत्में क्रम आदिकी विचित्रतासे अन्यान्य सृष्टि उपलब्ध होती है । जैसे कि कहीं पर 'आत्मन आकाशः' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार श्रुतिमें आकाशपूर्वक सृष्टि कही गई है । कहीं पर 'तत्तेजो०' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार तेजपूर्वक सृष्टि कही गई है । कहीं पर 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राण उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धा उत्पन्न की) इस प्रकार प्राणपूर्वक सृष्टि कही गई है । कहीं पर 'स इमाँल्लोकानसृजत०' (उसने इन लोकोंकी सृष्टिकी—जलमयशरीरवाला स्वर्गलोक, सूर्यकिरणसे

रत्नप्रभा

विकल्पेऽपि कारणे वस्तुनि असद् वा सद् वा कारणम् इत्यादिविकल्पासम्भवाद् अप्रामाण्यमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयन् उक्ताक्षेपं विवृणोति—**प्रतिवेदान्तमित्यादिना** । वेदान्तानां समन्वयसाधनात् श्रुत्यध्यायसङ्गतिः । असदादिपदानां सत्कारणे समन्वयोक्तेः पादसङ्गतिः । पूर्वपक्षे समन्वयासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः । क्रमाक्रमाभ्यां सृष्टिविरोधं तावद् दर्शयति—**तथाहि क्वचिदित्यादिना** । स परमात्मा लोकानसृजत । अम्मयशरीरप्रचुरस्वर्गलोकः अम्भःशब्दार्थः । सूर्यरश्मिव्याप्तोऽन्तरिक्षलोकः—मरीचयः । मरः—मर्त्यलोकः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्योतिका विकल्प होनेपर भी जगत्कारणके विषयमें कारण सत् है या असत् है, इत्यादि विकल्पोंका संभव न होनेसे उन श्रुतियोंका अप्रामाण्य हो जायगा, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष करते हुए उक्त आक्षेपका विवरण करते हैं—"प्रतिवेदान्तम्" इत्यादिसे । वेदान्तोंका ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध किया जाता है, इसलिए श्रुतिसंगति और अध्यायसंगति हैं । 'असत्' आदि पदोंका सद्रूप कारणमें समन्वय कहा गया है, अतः पादसंगति है । पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंके समन्वयकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है, ऐसा जानना चाहिए । क्रम और अक्रमसे सृष्टिमें विरोध दिखलाते हैं—"तथा हि क्वचित्" इत्यादिसे । उस परमात्माने लोकोंकी सृष्टि की । जलमय शरीर जिसमें बहुत हैं, वह स्वर्गलोक 'अम्भः' शब्दका अर्थ है । सूर्यरश्मियोंसे व्याप्त अन्तरिक्षलोक 'मरीचि' है । मर—मनुष्यलोक । जलपूरित पाताल लोक

भाष्य

मरीचीर्मरमापः' (ए० उ० ४।१।२) इति, तथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० २।७) इति, 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३।१९।१) इति च। क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०६।२।१,२)

भाष्यका अनुवाद

व्याप्त अन्तरिक्षलोक, मनुष्यलोक और जलमय पाताललोक) इस प्रकार क्रमके बिना ही लोकोंकी सृष्टि कही गई है। उसी प्रकार कहींपर 'असद्वा इदमग्र०' (पूर्वमें यह असत् था, इससे सत् उत्पन्न हुआ) और 'असदेवेदमग्र०' (पूर्वमें यह असत् ही था, वह सत् हुआ, वह सम्यक् अभिव्यक्त हुआ) इस प्रकार असत्पूर्वक सृष्टि कही गई है। कहींपर असद्वादका निराकरण करके 'तद्धैक आहुरसदे०' (जगत्के कारणके विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि पहले यह असत् ही था) इस प्रकार उपक्रम करके 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं०' (परन्तु हे सोम्य ! ऐसा किस प्रकार हो सकता है,

रत्नप्रभा

अब्बहुलाः पाताललोकाः—आप इति श्रुत्यर्थः। सृष्टिविरोधम् उक्त्वा कारणविरोधमाह—तथेति। असद्—अनभिव्यक्तनामरूपात्मकं कारणम्, ततः—कारणात् सद्—अभिव्यक्तम्। एतत्तुल्यार्थं छान्दोग्यवाक्यमाह—असदेवेति। किं शून्यमेव नेत्याह—तत्सदिति। अबाधितं ब्रह्मैव आसीदित्यर्थः। तद्—ब्रह्मात्मना स्थितं जगत् सृष्टिकाले सम्यगभिव्यक्तम् अभवत्। प्रक्रिया—सृष्टिः। तत्—तत्र कारणे। एके—बाह्याः, तेषां मतं श्रुतिरेव दूषयति—कुत इति। कुतएवंपदयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

'आपः' शब्दसे कहा गया है, यह श्रुतिका अर्थ है। सृष्टिका विरोध कहकर कारणमें विरोध दिखलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे। 'असत्'—जिसके नाम और रूप अभिव्यक्त नहीं हुए, ऐसा कारण, उस कारणसे सत्—दृश्यमान जगत् अभिव्यक्त हुआ। तैत्तिरीयक श्रुतिकी समानार्थक छान्दोग्यश्रुति कहते हैं—"असदेव" इत्यादि। आरम्भमें क्या शून्य ही था ? इस शंकापर "तत्सत्" इत्यादिसे कहते हैं कि नहीं था, किन्तु अबाधित ब्रह्म था। 'तत्समभवत्'—ब्रह्मरूपसे स्थित जगत् सृष्टि कालमें भली भाँति अभिव्यक्त हुआ। प्रक्रिया—सृष्टि। तत्–कारणमें। एके—बाह्य, श्रुतिसे बहिर्मुख, उनका मत श्रुति ही दूषित करती है—"कुतः"

भाष्य

इति, क्वचित् स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ० १।४।७) इति। एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्याऽनुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या। स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तर-परिग्रहो न्याय्य इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमा-दिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किंचिद्विगानमस्ति। कुतः? यथाव्यप-

भाष्यका अनुवाद

असत्से सत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, हे सोम्य! यह सब पूर्वमें सत् ही था, ऐसा कहते हैं) इस प्रकार सत्पूर्वक सृष्टिकी प्रतिज्ञा की जाती है। कहींपर 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत०' (यह सृष्टिके पूर्वमें अव्याकृत था, वह नाम-रूपसे ही व्याकृत हुआ) इत्यादिसे जगत्की सृष्टि अपने आप ही हुई है, ऐसा कहा है। इस प्रकार अनेक रीतिसे विप्रतिपत्ति होने और वस्तुमें विकल्पका संभव न होनेसे वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य जगत्कारणके अवधारणमें है, यह नहीं माना जा सकता। स्मृतिप्रसिद्धि और न्यायप्रसिद्धिसे तो ब्रह्मभिन्न कारणका स्वीकार करना उचित है।

ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपनिषदोंमें सृज्यमान आकाश आदिके क्रमके विषयमें विप्रतिपत्ति होनेपर भी स्रष्टाके विषयमें कुछ भी विरोध नहीं है।

रत्नप्रभा

अर्थमाह—**कथमिति**। स्वमतमाह—**सदिति**। तदिदं—जगत् ह—किल तर्हि—प्राक्काले अव्याकृतम् कारणात्मकम् आसीत्। श्रुतीनां विरोधम् उपसंहरति—**एवमिति**। किमत्र न्याय्यम्—इत्याशङ्क्य मानान्तरसिद्धप्रधानलक्षकत्वं वेदान्तानां न्याय्यमित्याह—**स्मृतीति**।

तत्र सृष्टौ विरोधम् अङ्गीकृत्य स्रष्टरि विरोधं परिहरति—**सत्यपीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। 'कुतः' और 'एवम्' पदका अर्थ कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। श्रुति अपना मत कहती है—"सत्" इत्यादिसे। यह जगत् सृष्टिके पहले कारणात्मक था। श्रुतियोंके विरोधका उपसंहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। तब यहां क्या उचित है, ऐसी आशंका करके अन्य प्रमाणसे सिद्ध हुए प्रधान को ही वेदान्तवाक्योंका लक्ष्य मानना उचित है, ऐसा कहते हैं—"स्मृति" इत्यादिसे।

ऐसी स्थिति प्राप्त होनेपर सृष्टिमें विरोधका अंगीकार करके सृष्टिकर्तामें विरोधका परिहार

भाष्य

दिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टः, तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१ इति)। अत्र तावद् ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयत्, अपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणाऽऽत्मशब्देन शरीरादिकोशपरम्परया चाऽन्तरनुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्यगात्मानं निरधारयत्। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति चाऽऽत्मविषयेण

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि जैसा एक जगह स्रष्टाका व्यपदेश है, वैसा ही सब जगह व्यपदेश है अर्थात् एक उपनिषत्‌में जैसा सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मक, एक, अद्वितीय ईश्वर कारणरूप कहा गया है, वैसा ही अन्य उपनिषदोंमें भी कहा गया है। वह इस प्रकार है—'सत्यं ज्ञानं०' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्त है) यहांपर ज्ञानशब्दसे अनन्तरोक्त उस ब्रह्मको कामयिता कहनेवाले वचनसे चेतन ब्रह्मका निरूपण करती हुई श्रुतिने ईश्वरको स्वतंत्र कारण कहा है। अनन्तरोक्त ब्रह्मविषयक आत्मशब्दसे और शरीर आदि कोशपरम्परा द्वारा सबके अन्दर प्रवेश करनेसे सबके भीतर प्रत्यगात्माका निर्धारण किया है। 'बहु स्यां०'

रत्नप्रभा

आकाशादिषु ब्रह्मणः कारणत्वे विरोधो नैव अस्तीति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—**कुत इति**। यथाभूतत्वमेव आह—**सर्वज्ञ इति**। कारणस्य सर्वज्ञत्वादिकं प्रतिवेदान्तं दृश्यत इत्याह—**तद्यथेत्यादिना**। तद्विषयेण—ब्रह्मविषयेण, चेतनम्—सर्वज्ञम्, "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० २।७।१) इति श्रुतेः अपरप्रयोज्यत्वम्। "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" (तै० १।२) इति प्रत्यगात्मत्वम्। स्वस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"सत्यपि" इत्यादिसे। आकाश आदिका ब्रह्म कारण है, इसमें विरोध है ही नहीं इस प्रतिज्ञामें कारण कहते हैं—"कुतः" इत्यादिसे। यथाभूतत्वका विवरण करते हैं—"सर्वज्ञ" इत्यादिसे। कारणमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म हैं, यह बात सब वेदान्तवाक्योंमें दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं—"तद्यथा" इत्यादिसे। 'तद्विषयेण'—ब्रह्मविषयकसे, चेतन—सर्वज्ञ। 'तदात्मानं०' (उसने आत्माको स्वयं किया) इस श्रुतिसे स्पष्ट है कि ईश्वरमें परप्रयोज्यत्व नहीं है। 'तस्माद्वा एतस्मा०' इस श्रुतिसे स्पष्ट है कि ईश्वर प्रत्यगात्मा

भाष्य

बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत, तथा 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तै० २।६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे। तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातम्, तल्लक्षणमेवाऽन्यत्राऽपि विज्ञायते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।१,३) इति, तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० ४।१।१,२) इति च, एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

(बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) इस प्रकार आत्माके अनेक स्वरूप कथनसे सृज्यमान विकारोंका स्रष्टासे अभेद कहा है। उसी प्रकार 'इदं सर्वमसृजत०' (उसने यह जो कुछ है, सब उत्पन्न किया) इस प्रकार समस्त जगत्‌की सृष्टिके निर्देशसे सृष्टिके पूर्व केवल अद्वितीय स्रष्टा ही था ऐसा (श्रुतिने) कहा है। इसलिए जिस प्रकारके लक्षणवाला ब्रह्म कारणरूपसे यहाँ बतलाया गया है, उसी प्रकारके लक्षणवाला ब्रह्म 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! पहले सारा प्रपंच एक, अद्वितीय, सत्स्वरूप ही था) 'तदैक्षत बहु स्यां०' (उसने विचारा कि मैं बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ, उसने तेजकी सृष्टिकी) उसी प्रकार 'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टिके पूर्व यह सब केवल आत्मरूप ही था, दूसरा कोई सचेष्ट पदार्थ नहीं था, उसने विचार किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) इस प्रकार अन्य स्थलोंमें भी जाना जाता है। कारणस्वरूपका निरूपण करनेमें तात्पर्य रखनेवाले इस प्रकारके वाक्यसमूह प्रत्येक उपनिषत्‌में हैं और उनके

रत्नप्रभा

बहुरूपत्वकामनया स्थितिकालेऽपि अद्वितीयत्वम्। यथा तैत्तिरीयके सर्वज्ञत्वादिकं कारणस्य, तथा छान्दोग्यादौ अपि दृश्यते इत्याह—**तदत्र यल्लक्षणमिति**। मिषत्—सव्यापारम्। अविगीतार्थत्वाद्—अविरुद्धार्थकत्वात् कारणे नाऽस्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। उसने स्वयं बहुत रूपोंकी कामना की है, इसलिए स्थितिकालमें भी ब्रह्म अद्वितीय ही है। जैसे तैत्तिरीयक श्रुतिमें कारणमें सर्वज्ञत्व आदि दिखाई देते हैं, वैसे ही छान्दोग्य आदिमें भी दिखाई देते हैं, ऐसा कहते हैं—"तदत्र यल्लक्षणम्" इत्यादिसे। 'मिषत्'—व्यापारयुक्त। 'अविगीतार्थत्वात्'—विरुद्धार्थक न होनेके कारण। 'अविगीतार्थत्वात्' के बाद 'कारणे नाऽस्ति

भाष्य

कार्यविषयं तु विगानं दृश्यते क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः क्वचित् तेजआदिकेत्येवंजातीयकम् । न च कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम्, अतिप्रसङ्गात् । समाधास्यति चाऽऽचार्यः कार्यविषयमपि विगानं 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यारभ्य । भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात्, नह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः । नहि

भाष्यका अनुवाद

अर्थमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं है । परन्तु कहींपर आकाशपूर्वक सृष्टि कही गई है, तो कहींपर तेजपूर्वक कही गई है, इस प्रकार कार्यमें तो विप्रतिपत्ति देखी जाती है । कार्यविषयक विप्रतिपत्तिसे सब वेदान्तोंमें अविरुद्धरूपसे प्रतीत होनेवाला कारणरूप ब्रह्म भी अविवक्षित है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर अतिप्रसंग हो जायगा । 'न वियदश्रुतेः' इस सूत्रसे प्रारम्भ करके कार्यविषयक विप्रतिपत्तिका भी आचार्य समाधान करेंगे । वेदान्तप्रतिपाद्य न होनेके कारण कार्यके विषयमें विप्रति-

रत्नप्रभा

विप्रतिपत्तिरिति शेषः । तथापि कार्ये विरोधात् कारणेऽपि विरोधः स्यादित्याशङ्क्य निषेधति—**कार्यविषयन्त्वित्यादिना** । स्वप्नसृष्टीनां प्रत्यहम् अन्यथात्वेन सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायमाने द्रष्टरि अपि नानात्वं प्रसज्येत इत्याह—**अतिप्रसङ्गादिति** । सृष्टिविरोधम् अङ्गीकृत्य स्रष्टरि न विरोध इत्युक्तम् अधुना अङ्गीकारं त्यजति—**समाधास्यति चेति** । किमर्थं तर्हि श्रुतयः सृष्टिम् अन्यथाऽन्यथा वदन्तीत्याशङ्क्य सृष्टौ अतात्पर्यज्ञापनाय इत्याह—**भवेदित्या-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

विप्रतिपत्तिः' (कारणमें कुछ भी विप्रतिप्रति नहीं है) इतना शेष समझना चाहिए । तो भी कार्यमें विरोध होनेसे कारणमें भी विरोध हो, ऐसी आशंका करके उसका निराकरण करते हैं— "कार्यविषयं तु" इत्यादिसे । प्रतिदिन स्वप्नसृष्टियां नाना प्रकारकी होती हैं, इससे 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस प्रकार जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, उस द्रष्टामें भेद हो जायगा, ऐसा कहते हैं— "अतिप्रसङ्गात्" इत्यादिसे । पहले सृष्टिमें विरोध मानकर स्रष्टामें विरोध नहीं है, ऐसा कहा है, अब स्वीकृत सृष्टिविरोधका परित्याग करते हैं—"समाधास्यति च" इत्यादिसे । तब श्रुतियां सृष्टिको भिन्न भिन्न रूपसे क्यों कहती हैं, ऐसी आशंका करके वह कथन वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य सृष्टिमें नहीं है, ऐसा ज्ञान करानेके लिए है, ऐसा कहते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे । जिस अर्थमें तात्पर्य नहीं है,

भाष्य

तत्प्रतिबद्धः कश्चित् पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा, न च कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात्। दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्—'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा० ६।८।४) इति। मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाऽभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते। तथा च संप्रदायविदो वदन्ति—

भाष्यका अनुवाद

पत्ति भले ही हो उससे हमारी हानि ही क्या है। निश्चय, सृष्टि आदि प्रपंच वेदान्तवाक्योंसे विवक्षित नहीं है, क्योंकि प्रपंचसे संबन्ध रखनेवाला कोई भी पुरुषार्थ न तो अनुभवसिद्ध है और न श्रुतिमें ही मिलता है, एवं सृष्टिविषयक वाक्योंसे उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारके बलसे तत् तत् उपनिषदोंमें स्थित ब्रह्मविषयक वाक्योंके साथ उनकी एकवाक्यता प्रतीत होती है। 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेन०' (हे सोम्य ! अन्नरूप कार्यसे जलरूप मूलका निश्चय करो, हे सोम्य ! जलरूप कार्यसे तेजरूप मूलका निश्चय करो और हे सोम्य ! तेजरूप कार्यसे सद्रूप मूलका निश्चय करो) इस प्रकार सृष्टि आदि प्रपंच ब्रह्मके ज्ञानके लिए है, ऐसा श्रुति दिखलाती है। और मृत् आदि दृष्टान्तोंसे कार्यकारणसे अभेद कहनेके लिए सृष्टि आदि प्रपंचका श्रुतिमें प्रतिपादन किया है, ऐसा

रत्नप्रभा

दिना। अतात्पर्यार्थे विरोधो न दोषाय इत्यत्र तात्पर्यं साधयति—**नहीति**। फलवद्ब्रह्मवाक्यशेषत्वेन सृष्टिवाक्यानाम् अर्थवत्त्वसम्भवान्न स्वार्थे पृथक् फलं कल्प्यम्, वाक्यभेदापत्तेः इत्याह— **न च कल्पयितुमिति**। न्यायात् एकवाक्यत्वं सिद्धं श्रुतिः अपि दर्शयति इत्याह—**दर्शयति चेति**। शुङ्गेन—कार्येण लिङ्गेन। कारणब्रह्मज्ञानार्थत्वं सृष्टिश्रुतीनाम् उक्त्वा कारणस्य, अद्वयत्वज्ञानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उस अर्थका विरोध दोषावह नहीं होता है, इसके लिए सृष्टिमें तात्पर्याभावको सिद्ध करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। सार्थक ब्रह्मवाक्योंके शेष होनेके कारण सृष्टिवाक्य भी सार्थक हो सकते हैं, इसलिए उनके स्वार्थमें पृथक् फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वाक्यभेद हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"न च कल्पयितुम्" इत्यादिसे। न्यायसे सिद्ध एकवाक्यताको श्रुति भी दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"दर्शयति च" इत्यादिसे। 'शुङ्गेन'—कार्यरूप लिङ्गसे। कारणरूप ब्रह्मके ज्ञानके लिए सृष्टिश्रुतियोंका उपयोग है, ऐसा कहकर

भाष्य

'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥'

(मा० ३।२५) इति । ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे० ३।८) इति च । प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम् 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतीत होता है । और 'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यै०:' (मृत्तिका) लोह, चिनगारी आदि अन्यान्य प्रकारसे जो सृष्टि कही गई है, वह ब्रह्मका ज्ञान उत्पन्न होनेके लिए है, किसी भी प्रकारसे कारणमें भेद नहीं है) इस प्रकार सम्प्रदाय जाननेवाले भी कहते हैं । ब्रह्मज्ञानसे होनेवाला फल 'ब्रह्मविदाप्नोति०' (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्मको प्राप्त करता है) 'तरति शोक०' (आत्मवेत्ता शोकको पार कर जाता है) 'तमेव विदित्वा०' (उसीको जानकर मृत्युपर विजय पाता है) इस प्रकार सुना जाता है । और यह फल प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) ऐसे असंसारी आत्माकी प्रतीति होनेसे संसारी आत्मत्व जाता रहता है ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

फलान्तरमाह—**मृदादीति** । एवं निष्फलायाम् अन्यार्थायां सृष्टौ तात्पर्याभावात् विरोधो न दोष इत्यत्र वृद्धसम्मतिमाह—**तथा चेति** । अन्यथाऽन्यथेति वीप्सा द्रष्टव्या । अवताराय—ब्रह्मधीजन्मने, अतस्तदन्यथात्वेऽपि ब्रह्मणि न भेदः । ज्ञेये न विगानम् इत्यर्थः । ब्रह्मज्ञानस्य सृष्टिशेषित्वम् उक्तम् तन्निर्वाहाय तस्य फलमाह—**ब्रह्मेति** । मृत्युम् अत्येति इत्यन्वयः ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणमें अद्वितीयत्वज्ञानरूप अन्य फल कहते हैं—"मृदादि" इत्यादिसे । इस प्रकार निष्फल और अन्यार्थक सृष्टिमें तात्पर्य न होनेसे विरोध दोषजनक नहीं है, इस विषयमें वृद्धोंकी सम्मति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । 'अन्यथा'—इसकी 'अन्यथाऽन्यथा' इस प्रकार वीप्सा समझनी चाहिए । अवताराय—ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिए है, इसलिए सृष्टिमें भेद होनेपर भी ब्रह्ममें भेद नहीं है अर्थात् ज्ञेयमें विप्रतिपत्ति नहीं है । ब्रह्मज्ञानको सृष्टिका अंगी कहा है, उसके निर्वाहके लिए उसका फल कहते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे । 'अति मृत्युमेति'का व्यत्याससे 'मृत्युमत्येति' (मृत्युपर विजय पाता है ऐसा अन्वय है ॥१४॥

भाष्य

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि तत् परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु कारणमें 'असद्वा इद०' (पूर्वमें यह असत् था) ऐसी जो विप्रतिपत्ति दिखलाई गई है, उसका परिहार करना चाहिए, इसपर कहते हैं—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

पदार्थोक्ति—समाकर्षात्—'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यत्र अनभिव्यक्तनामरूपवाचिनाऽसच्छब्देन सत एव समाकर्षात् [न असतः कारणत्वशङ्कावकाशः] ।

भाषार्थ—'असदेवेद०' (यह सारा जगत् सृष्टिके पहले असत् ही था) इस श्रुतिमें 'नाम और रूप अनभिव्यक्त थे' ऐसा प्रतिपादन करनेवाले 'असत्' शब्दसे सत्का ही आकर्षण होता है, इसलिए उक्त श्रुतिमें जगत्कारण असत् कहा गया है, ऐसी शङ्काका अवसर ही नहीं है ।

भाष्य

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) इति नाऽत्राऽसन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते । यतः 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।

भाष्यका अनुवाद

'असद्वा इद०' (सृष्टिके पहले यह असत् था) इस श्रुतिमें स्वरूपरहित असत् कारणरूपसे नहीं कहा गया है, क्योंकि 'असन्नेव स भवति०' (ब्रह्मको

रत्नप्रभा

एवं सृष्टिद्वारकं विरोधम् उत्सूत्रं समाधाय कारणस्य सदसत्त्वादिना साक्षाच्छ्रुतिविरोधनिरासार्थं सूत्रमादत्ते—यत्पुनरिति । यतोऽस्तित्वलक्षणं ब्रह्म निर्धार्य तस्मिन्नेव श्लोकमुदाहरति अतोऽत्र श्लोके निरात्मकम् असत् न श्राव्यते इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पूर्व सूत्रसे सृष्टिकृत विरोधका समाधान करके अब कारणमें सद्रूपत्व, असद्रूपत्व आदिरूपसे साक्षात् श्रुतिविरोध जो दिखलाया गया था, उसका निरास करनेके लिए सूत्रका ग्रहण करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे । चूंकि अस्तित्वलक्षण ब्रह्मका निर्धारण करके उसीके लिए श्लोक—मंत्र कहते हैं, इससे इस श्लोकमें निरात्मक असत्का श्रवण नहीं

भाष्य

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनाऽस्तित्वलक्षणं ब्रह्माऽन्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति। यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिञ्छ्लोकेऽभिप्रेयेत, ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसम्बद्धं वाक्यमापद्येत। तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्माऽसदिवाऽऽसी-

भाष्यका अनुवाद

असद्रूपसे जो जानता है वह अवश्य असत् हो जाता है। जो ब्रह्मको सद्रूप जानता है उसको विद्वान् सत् कहते हैं) इस प्रकार असद्वादके अपवादसे ब्रह्म सत्स्वरूप है और अन्नमय आदि कोशपरम्परासे प्रत्यगात्मा है, ऐसा निर्धारण करके 'सोऽकामयत' (उसने चाहा) इसमें उसी प्रकृत ब्रह्मका समाकर्षण करके, उसीसे विस्तृत सृष्टि होती है, यह कहकर 'तत्सत्य०' (वह सत्य कहलाता है) इस प्रकार उपसंहार करके 'तदप्येष०' (उसमें यह मंत्र भी है) इस प्रकार प्रकृत अर्थमें 'असद्वा इद०' यह मंत्र उद्धृत किया गया है। यदि इस श्लोकमें स्वरूपशून्य—अभावात्मक असत् अभिप्रेत हो, तो जिसका समाकर्षण किया गया है उससे अन्यका उदाहरण देनेसे वाक्य असम्बद्ध हो जायगा। इसलिए नाम और रूपसे व्याकृत वस्तुमें प्रायः सत्शब्दका प्रयोग प्रसिद्ध है इसलिए सृष्टिसे पहले व्याकृत न होनेके

रत्नप्रभा

योजना। तत्—तत्र सदात्मनि, श्लोकः—मन्त्रो भवति। सदात्मसमाकर्षात् अतीन्द्रियार्थकासत्पदेन ब्रह्म लक्ष्यत इत्याह—**तस्मादिति**। न च प्रधानमेव लक्ष्यतामिति वाच्यम्। चेतनार्थकब्रह्मादिशब्दानाम् अनेकेषां लक्षणायां गौरवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसी वाक्ययोजना करनी चाहिए। [तदप्येष श्लोको भवति] उस सद्रूप आत्माके विषयमें यह मंत्र है। सद्रूप आत्माका समाकर्षण है, इसलिए अतीन्द्रियवाचक असत्पदसे ब्रह्म लक्षित होता है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। असत्पदसे प्रधान ही लक्षित हो, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि चेतन जिनका अर्थ है, ऐसे ब्रह्म आदि अनेक शब्दोंकी लक्षणा

भाष्य

दित्युपचर्यते । एषैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इत्यत्रापि योजना, 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात् । अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि तत्सदासीदिति किं समाकृष्येत । 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणाऽयमेकीयमतोपन्यासः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्याऽसंभवात् । तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्ष-दार्ढ्यायैवाऽयं मन्दमतिपरिकल्पितस्याऽसत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति

भाष्यका अनुवाद

कारण सत् ही ब्रह्म असत्–सा था, ऐसा उपचार किया जाता है । 'असदे-वेदमग्र०' इसमें भी यही योजना है, क्योंकि 'तत्सदासीत्' (वह सत् था) इसका समाकर्षण है । यदि अत्यन्ताभावरूप असत्का स्वीकार करें तो 'तत्सदासीत्' इसमें किसका समाकर्षण करेंगे । 'तद्धैक आहु०' (उसमें कितने ही कहते हैं कि सृष्टिके पहले यह असत् ही था) इसमें दूसरी श्रुतिके अभिप्रायसे कितने ही के मतका उपन्यास नहीं होता है, क्योंकि क्रियाके समान वस्तुमें विकल्पका संभव नहीं है । इसलिए श्रुतिसे परिगृहीत सत्पक्षको दृढ करने लिए ही मन्दमतिवालोंसे कल्पित असत् पक्षका उपन्यास-

---

रत्नप्रभा

दिति भावः । तित्तिरिश्रुतौ सूत्रं योजयित्वा छान्दोग्यादौ योजयति—**एषैवेति** । सदेकार्थकतत्पदेन पूर्वोक्तासतः समाकर्षात् न शून्यत्वमित्यर्थः । ननु असत्पदलक्षणा न युक्ता, श्रुतिभिरेव स्वमतभेदेन उदितानुदितहोमवत् विकल्पस्य दर्शितत्वादित्यत आह—**तद्धैक इति** । एके शाखिन इत्यर्थो न भवति, किन्तु अनादिसंसार-चक्रस्था वेदबाह्या इत्यर्थः । शून्यनिरासेन श्रुतिभिः सद्वादस्यैव इष्टत्वात् तासां

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेमें गौरव होगा । तैत्तिरीयक श्रुतिमें सूत्रकी योजना करके छान्दोग्य आदिमें उसकी योजना करते हैं—"एषैव" इत्यादिसे । 'तत्सदासीत्' इसमें सद्रूपवाचक तत् पदसे पूर्वमें कथित असत्का समाकर्षण होनेसे 'असत्'का अर्थ शून्य नहीं है, ऐसा अर्थ है । यदि कोई कहे कि असत्पदकी लक्षणा करना युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति ही मतभेदसे उदित होम और अनुदित होमके समान विकल्प दिखलाती है, इसपर कहते हैं—"तद्धैके" इत्यादि । 'एके'का अर्थ एक शाखावाले नहीं है, किन्तु अनादि संसारचक्रमें पड़े हुए वेदबाह्य हैं । शून्यका निराकरण करनेसे भी सद्वाद ही श्रुतिको इष्ट है, इसलिए श्रुतियोंमें विरोधका स्फुरण होता हो, तो उसके निरा-

भाष्य

द्रष्टव्यम् । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।८) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते । 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात् । निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत । चेतनस्य चाऽयमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते, अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात्, 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति । अपि च यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्

भाष्यका अनुवाद

पूर्वक यह निराकरण है, यह समझना चाहिए। 'तद्धेदं०' इसमें अध्यक्षरहित जगत्का व्याकरण नहीं कहा जाता, क्योंकि 'स एष इह प्रविष्ट०' (वह इस शरीरमें नखके अग्रभाग तक प्रविष्ट हुआ) इस प्रकार अध्यक्षका व्याकृत वस्तुओंमें प्रवेशकर्तृत्वरूपसे समाकर्षण है। अध्यक्षके बिना ही जगत्की अभिव्यक्ति स्वीकार करें तो अनन्तरोक्त प्रकृतके साथ संबन्ध रखनेवाले 'सः' इस सर्वनामसे कार्यमें अनुप्रवेश करनेवालेके रूपसे किसका समाकर्षण होगा? और चेतन आत्माका शरीरमें यह अनुप्रवेश सुना जाता है, क्योंकि 'पश्यंश्चक्षुः०' (वह देखता हुआ चक्षु है, सुनता हुआ श्रोत्र है, मनन करता हुआ मन है) इस प्रकार प्रवेश करनेवालेका श्रुति चेतनरूपसे प्रतिपादन करती है। उसी प्रकार जैसे वर्तमान समयमें नामरूपसे व्याकृत होनेवाला पदार्थ सकर्तृक

रत्नप्रभा

विरोधस्फूर्तिनिरासाय लक्षणा युक्तेति भावः । यदुक्तम्—क्वचिद् अकर्तृका सृष्टिः कथिता इति, तन्नेत्याह—**तद्धेदमिति** । अध्यक्षः—कर्ता । ननु अत्र कर्त्रभाव एव परामृश्यते इत्यत आह—**चेतनस्य चायमिति** । चक्षुः—द्रष्टा, श्रोत्रम्—श्रोता, मनः—मन्ता इत्युच्यते इत्यर्थः । आद्यकार्यं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवदित्याह—**अपि**

रत्नप्रभाका अनुवाद

करणके लिए लक्षणा करना उचित है, ऐसा अर्थ है। कहींपर कर्तृरहित सृष्टि कही गई है, ऐसा जो कहा है, वह वैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तद्धेदम्" इत्यादिसे। अध्यक्ष—कर्ता। यदि कोई कहे कि कर्ताके अभावका ही परामर्श होता है, इसपर कहते हैं—"चेतनस्य चायम्" इत्यादि। चक्षु अर्थात् द्रष्टा, श्रोत्र अर्थात् श्रोता, मन अर्थात् मननकर्ता। पहला कार्य कर्तृजन्य है, कार्य होनेसे, घटके समान, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अद्यत्वे-

भाष्य

साध्यक्षं व्याक्रियते एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते, दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः । श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति । व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः । यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके लवितरि । यद्वा, कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः । यथा गम्यते ग्राम इति ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

व्याकृत होता है, वैसे ही आदि सृष्टिमें भी था, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि जो दिखाई देता है, उससे विपरीत कल्पना नहीं की जा सकती । 'अनेन जीवेनात्मना०' (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और रूपको मैं व्यक्त करूँगा) इस प्रकार दूसरी श्रुति भी जगत्‌की अभिव्यक्ति सकर्तृक है, ऐसा दिखलाती है । 'व्याक्रियते' यह कर्मकर्तामें लकार अभिव्यक्तिकर्ता परमेश्वरके रहनेपर भी सौकर्यकी अपेक्षासे है, जैसे कि खेत काटनेवाले किसी पूर्णक-नामक मनुष्यके रहनेपर भी 'लूयते केदारः०' (क्यारी अपने ही कट रही है) ऐसा प्रयोग होता है । अथवा जैसे 'गम्यते ग्रामः' (ग्राम प्राप्त किया जाता है) इसमें कर्ताका आक्षेप किया जाता है वैसे ही अर्थसे आक्षिप्त कर्ताकी अपेक्षासे कर्मके अर्थमें ही यह लकार समझना चाहिए ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

चेति । अद्यत्वे—इदानीम् । ननु कर्मकारकात् अन्यस्य कर्तुः सत्त्वे कर्मण एव कर्तृवाचिलकारो विरुद्ध इत्यत आह—व्याक्रियत इति । अनायासेन सिद्धिमपेक्ष्य कर्मणः कर्तृत्वम् उपचर्यते इत्यर्थः । व्याक्रियते जगत् स्वयमेव निष्पन्नमिति व्याख्याय केनचिद् व्याकृतमिति व्याचष्टे—यद्वेति । अतः श्रुतीनामविरोधात् कारणद्वारा समन्वय इति सिद्धम् ॥ १५ ॥ (४) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आजकल । परन्तु कर्मकारकसे भिन्न कर्ता होनेसे कर्ममें कर्तृवाचक लकार हो यह विरुद्ध है; इसपर कहते हैं—"व्याक्रियते" इत्यादि । अनयास कार्यसिद्धि होनेसे कर्म ही उपचारसे कर्ता होता है, ऐसा अर्थ है । 'व्याक्रियते' का जगत् स्वयं ही उत्पन्न होता है,—ऐसा व्याख्यान करके अब किसी दूसरेने उत्पन्न किया है, ऐसा व्याख्यान करते हैं "यद्वा" इत्यादिसे । इसलिए श्रुतियोंका कारणद्वारा भी अविरोध होनेसे सिद्ध हुआ कि उनका ब्रह्ममें समन्वय है ॥१५॥

[५ बालाक्यधिकरण सू० १६-१८]

पुरुषाणान्तु कः कर्ता प्राणजीवपरात्मसु ।
कर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वे विवक्षिते ॥ १ ॥
जगद्वाची कर्मशब्दः पुंमात्रविनिवृत्तये ।
तत्कर्त्ता परमात्मैव न मृषावादिता ततः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः' इस श्रुतिमें उक्त पुरुषोंका कर्ता प्राण है या जीव है अथवा परमात्मा है ?

पूर्वपक्षी—कर्मशब्दसे चलनात्मक क्रिया कही गई है, अतः प्राण पुरुषोंका कर्ता है अथवा कर्मशब्द अपूर्वका वाचक है, इसलिए जीव उनका कर्ता है ।

सिद्धान्त—यहां कर्मशब्द जगत्का वाचक है । वह केवल पुरुषोंका कर्ता है, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए 'यस्य वैतत्कर्म' कहा गया है । सारे जगत्का कर्ता परमात्मा ही है, इसीलिए राजामें मृषावादित्व नहीं है ।

---

* तात्पर्य यह कि कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद्‌में बालाकिनामक ब्राह्मणके आदित्य आदि सोलह पुरुषोंको ब्रह्मरूपसे कहनेपर राजाने उसका निराकरण करके स्वयं कहा—"यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" (कौ० ४।१८) इसका अर्थ यह है कि हे बालाके! इन पुरुषोंका जो कर्ता है, जिसका यह कर्म है, उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । इसमें संशय होता है कि पुरुषोंका कर्ता प्राण है या जीव है अथवा परमात्मा है ।

पूर्वपक्षी कहता है कि प्राण पुरुषोंका कर्ता है, क्योंकि कर्मशब्द चलनक्रियावाचक है । देह आदिका चालन प्राणसे होता है । अथवा जीव पुरुषोंका कर्ता है, क्योंकि कर्मशब्द अपूर्वका वाचक है । जीव अपूर्वका स्वामी है । परमात्मा किसी प्रकार भी उनका कर्ता नहीं हो सकता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहां कर्मशब्द न क्रियाका वाचक है, न अपूर्व ही का वाचक है, किन्तु 'क्रियत इति कर्म' इस व्युत्पत्तिसे जगत्का वाचक है । कर्मशब्द जगद्वाचक होनेसे ही 'केवल पुरुषोंका कर्ता है' इस शंकाकी निवृत्ति करता हुआ सार्थक होता है । इसलिए श्रुतिवाक्यके अक्षरोंकी ऐसी योजना करनी चाहिए—हे बालाके ! तुमसे कथित सोलह पुरुषोंका जो कर्ता है, उसका ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए न कि सोलह पुरुषोंका । अथवा इन सोलहोंका कर्ता, ऐसा संकोच क्यों करें, यह सब जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, उसीका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । सारे जगत्का कर्ता तो परमात्मा ही है, जीव और प्राण जगत्के कर्ता नहीं हैं । इससे राजामें मृषावादित्वरूप दोष भी नहीं आता, अन्यथा "ब्रह्म ते ब्रवाणि" (मैं तुमसे ब्रह्म कहूँगा) ऐसी प्रतिज्ञा करके सोलह पुरुषोंको कहते हुए बालाकिमें "मृषा वै किल" (तुम जो बोलते हो वह मिथ्या है) इस प्रकार मृषावादित्वका आपादनकर स्वयं ब्रह्मको कहनेकी इच्छा रखनेवाला राजा यदि प्राण या जीवको कहे, तो बालाकिकी तरह राजा भी मृषावादी हो जायगा । ऐसा मानना तो अनुचित है । इससे सिद्ध हुआ कि श्रुतिवाक्यमें उक्त जगत्का कर्ता परमात्मा ही है ।

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–**भगवन्नामकौमुदी**—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित । सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–**भक्तिरसायन**—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित, प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित । सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं० १७०, मू.–आ. १२

३–**शुल्बसूत्र**—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित । सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–**कात्यायनश्रौतसूत्र**—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत । सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़ । पृ० सं० लगभग १०००, मू. –रु. ६

५–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू.–रु. २

६–**भक्तिरसामृतसिन्धु**—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित । सं०–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं० ६२५, मू०–रु० ३

७–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०–रु. २ आ. ४

८–**तिथ्यर्क**—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित । सं० साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू०–रु० १ आ० ८

९–**परमार्थसार**—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल। पृ० सं० १००, मू.–आ. ६

१०–**प्रेमपत्तन**—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्‌भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ. सं. २३०, मू.–रु.१

(ख) विभाग

१–**खण्डनखण्डखाद्य**—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित।
पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.–रु. २ आ. १२

२–**काशी-केदार-माहात्म्य**—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० २६+६०४, मू.–रु. २ आ. ८

३–**सिद्धान्तबिन्दु**—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५–**प्रकरणपञ्चक**—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० १३१, मू.–आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ षट्‌सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।
(२) गीताप्रेस, गोरखपुर।

नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं। 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायँगे।

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.